क्रांतिधर्मी साहित्य - युग साहित्य - इक्कीसवीं सदी का मार्गदर्शक साहित्य

क्रान्तिधर्मी साहित्य-युग साहित्य नाम से विख्यात यह पुस्तकमाला युगद्रष्टा-युगसृजेता प्रज्ञापुरुष पं.श्रीराम शर्मा आचार्य जी द्वारा १९८९-९० में महाप्रयाण के एक वर्ष पूर्व की अवधि में एक ही प्रवाह में लिखी गयी है। प्रायः २० छोटी-छोटी पुस्तिकाओं में प्रस्तुत इस साहित्य के विषय में स्वयं हमारे आराध्य प.पू. गुरुदेव पं.श्रीराम शर्मा आचार्य जी का कहना था-''हमारे ये विचार, क्रान्ति के बीज हैं। ये थोड़े भी दुनियाँ में फैल गए, तो अगले दिनों धमाका कर देंगे। सारे विश्व का नक्शा बदल देंगे।....मेरे अभी तक के सारे साहित्य का सार हैं।.... सारे जीवन का लेखा-जोखा हैं।.... जीवन और चिंतन को बदलने के सूत्र हैं इनमें।.... हमारे उत्तराधिकारियों के लिए वसीयत हैं।.... अभी तक का साहित्य पढ़ पाओ या न पढ़ पाओ, इसे जरूर पढ़ना। इन्हें समझे बिना भगवान के इस मिशन को न तो तुम समझ सकते हो, न ही किसी को समझा सकते हो।.... प्रत्येक कार्यकर्त्ता को नियमित रूप से इसे पढ़ना और जीवन में उतारना युग-निर्माण के लिए जरूरी है। तभी अगले चरण में वे प्रवेश कर सकेंगे।.... यह इस युग की गीता है। एक बार पढ़ने से न समझ आए तो सौ बार पढ़ना और सौ लोगों को पढ़ाना। उनसे भी कहना कि आगे वे १०० लोगों को पढ़ाएँ। हम लिखें तो असर न हो, ऐसा हो ही नहीं सकता। जैसे अर्जुन का मोह गीता से भंग हुआ था, वैसे ही तुम्हारा मोह इस युग-गीता से भंग होगा।.... मेरे जीवन भर का साहित्य इस शरीर के वजन से भी ज्यादा भारी है। यदि मेरे जीवन भर के साहित्य को तराजू के एक पलड़े पर रखें और क्रांतिधर्मी साहित्य को दूसरे पलड़े पर, तो इनका वजन ज्यादा होगा।.... महाकाल ने स्वयं मेरी उँगलियाँ पकड़कर ये साहित्य लिखवाया है।.... इन्हें लागत मूल्य पर छपवाकर प्रचारित-प्रसारित (शब्दशः-अक्षरशः) करने की सभी को छूट है, कोई कापीराइट नहीं है।....मेरे ज्ञान शरीर को मेरे क्रान्तिधर्मी साहित्य के रूप में जन-जन तक पहुँचाने का प्रयास करें।''.....

समयदान ही युग धर्म

लेखक :
पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक, मुद्रक :
युग निर्माण योजना, मथुरा

२००६ मूल्य :५.०० रुपया

—दान अर्थात् देना; ईश्वर प्रदत्त क्षमताओं को जागृत विकसित करना और उससे औरों को भी लाभ पहुँचाना। यही है पुण्य परमार्थ-सेवा। स्वर्गीय परिस्थितियाँ इसी आधार पर बनती हैं।

—लेना-बटोरना-दूसरों के अधिकार का अपहरण करना, यही पाप है, इसी की प्रतिक्रिया का अलंकारिक प्रतिपादन है नर्क।

—यहाँ समस्त महामानव मात्र एक ही अवलंबन अपनाकर उत्कृष्टता के प्रणेता बन सके हैं, कि उन्होंने संसार में जो पाया, उसे प्रतिफल स्वरूप अनेक गुना करके देने का व्रत निवाहा।

धनदान तो एक प्रतीक मात्र है। उसका तो दुरुपयोग भी हो सकता है, प्रभाव विपरीत भी पड़ सकता है। वास्तविक दान प्रतिभा का है, धन साधन उसी से उपजते हैं। प्रतिभादान-समयदान से ही संभव है। यह ईश्वर प्रदत्त संपदा सबके पास समान रूप से विद्यमान है।

—वस्तुतः समयदान तभी बन पड़ता है, जब अंतराल की गहराई में, आदर्शों पर चलने के लिए बेचैन करने वाली टीस उठती हो।

—यह असाधारण समय है। तत्काल निर्णय और तीव्र क्रियाशीलता उसी प्रकार आवश्यक है जैसी कि आग बुझाने या ट्रेन छूटने के समय होती है। हनुमान, बुद्ध, समर्थ गुरु रामदास, विवेकानंद आदि ने समय आने पर शीघ्र निर्णय न लिए होते, तो ये उस गौरव से वंचित ही रह जाते, जो उन्हें प्राप्त हो गया।

—महात्मा ईसा ने ठीक ही कहा है, "श्रेष्ठ कार्य यदि बाएँ हाथ की पकड़ में आता है तो भी तुरंत पकड़ो। बाएँ से दाएँ का संतुलन बनाने जितने थोड़े-से समय में ही कहीं शैतान बहका न ले.....।

दान और उसका औचित्य

दान पुण्य शब्द एक साथ मिलाकर बोले जाते हैं और इनके प्रतिफल भी समानांतर बताए जाते हैं। अध्यात्म भाषा में उसकी महत्ता स्वर्ग, मुक्ति, सिद्धि, वरदान, चमत्कार आदि के रूप में बतायी जाती है और बोल-चाल की भाषा में उसे प्रगति, सफलता, वरिष्ठता प्रदाता तक बताया जाता है।

दान अर्थात् "देना", यही पुण्य है। लेना अर्थात् अधिकारों का अपहरण, यही पाप है। पाप की परिणति लौकिक और पारलौकिक क्षेत्र में अवगति-दुर्गति स्तर की होती है। नरक इसी का अलंकारिक प्रतिपादन है। दोनों में से अपनी गतिविधियाँ किस पक्ष के साथ विनियोजित करना है, यह मनुष्य की अपनी इच्छाओं की बात है। परिस्थितियाँ कई बार इस चयन के विपरीत दबाव भी डालती देखी गई हैं, पर अंततः होता वही है, जिस पर इच्छा शक्ति का संकल्प बनकर केंद्रीभूत होती है।

हरिश्चंद्र, कर्ण, बलि, दधीचि, भामाशाह आदि की कथाएँ इसी तथ्य का प्रतिपादन करती हैं। स्वर्ग जाने वाले और मुक्ति पाने वालों को इससे भी बढ़कर आत्म सपर्मण करना पड़ता है। भक्ति का एक ही स्वरूप है—अपनी इच्छा-आकांक्षाओं को आराध्य के साथ घुला-मिला देना। ईंधन इसी आधार पर तुच्छ होते हुए भी, दावानल बनकर जाज्वल्यमान होता है। भगवान को भक्त वत्सल कहा गया है। वह समर्पणकर्ता के हाथों अपने को सौंप देता है और उसके इशारे पर नाचता है। मीरा के साथ सहनृत्य करना, सूर की लकुटी पकड़कर सेवक की तरह कार्यरत रहना, ऐसे ही उदाहरण हैं। सुदामा, चैतन्य, हनुमान, अर्जुन आदि की गणना ऐसे ही भक्तों में होती है, जिन्होंने भगवान के खेत में अपना सर्वस्व उदारतापूर्वक बोया और बीज की तुलना में चार गुना अन्न भंडार अपने कोठे में भरा-सँजोया।

श्रद्धास्पद श्रेष्ठजनों को देव मानव कहा जाता है। उनके अनुदानों के प्रति सृष्टि का कण-कण अपनी कृतज्ञता प्रकट करता

है। यहाँ समस्त महामानव मात्र एक ही अवलंबन अपना कर उत्कृष्टता के प्रणेता बन सके हैं, कि उन्होंने संसार में जो पाया, उसकी तुलना में उसके प्रतिफल स्वरूप, असंख्य गुना करने का होते रहने का व्रत निवाहा। यदि कृपणता उन्हें घेरे रही होती, तो प्रेत पिशाचों की पंक्ति में ही गिने जाने योग्य बने रहते; भले ही उनकी संचित-संपदा कितनी ही बढ़ी-चढ़ी क्यों न रही हो ?

सच्चाइयाँ कितनी ही कष्ट साध्य क्यों न हों, अपने स्थान पर अकेले ही समुद्र के बीच अवस्थित प्रकाशस्तंभ की तरह अविचल ही बनी रहती हैं। ऐसी ही सच्चाइयों में से एक यह भी है कि जो जितना देता है, वह उसी अनुपात में पाता है। मसखरी करने वालों को बदले में उपहास ही हाथ लगता है। यह बात इस संदर्भ में कही जा रही है कि देने के नाम पर अँगूठा दिखाने और लेने के लिए कंधे पर बड़ा थैला लादे-फिरने वाले, मात्र निराशा, थकान और खीज ही लेकर लौटते हैं। भले ही उन्होंने मुफ्त में तुर्त-फुर्त बहुत कुछ पाने की शेखचिल्ली जैसा सपना ही क्यों न संजो रखा हो ?

संसार में व्यावहारिकता का ही प्रचलन है। यहाँ इस बाजार में, एक से एक बढ़िया वस्तुएँ भरी और आकर्षक ढंग से सजी पड़ी हैं, पर उसमें एक को भी मुफ्त में पा सकना कठिन है। जो ऐसी चेष्टा करते हैं, वे चोरों की तरह पकड़े जाते हैं, या फिर भिखारियों की तरह हर द्वार से दुतकारे जाते हैं। इस आधार पर यदि किसी ने कभी कुछ पाया भी होगा, तो वह उसकी आदत और व्यक्तित्व का स्तर गिरा देने के कारण महँगा भी बहुत पड़ा होगा। अनुदान का प्रतिदान ही यहाँ का शाश्वत नियम है।

दुनियाँ का सम्मान और सहयोग उनके लिए सुरक्षित है, जो देते बहुत हैं, पर बदले में कम पाने पर भी काम चला लेते हैं। कम देना और बहुत पाना तो प्रवचंकों, पाखंडियों और अनाचारियों के ही गले उतरता है। वस्तुतः इस प्रत्यक्ष संसार और अप्रत्यक्ष परलोक का एक ही शाश्वत क्रम है कि पहले दो, बाद में पाओ। पहले पाने और बाद में उसका एक अंश खैरात कर देने की नीति तो लुटेरे ही अपनाते हैं। उनकी भी घात सदा नहीं लगती।

मन के मोदक न बनाने हों, दिवास्वप्न देखने हों, बिना पंखों के आकाश नापने की योजना न बनानी हो और यथार्थ का अवलंबन करते हुए ठोस उपलब्धियाँ हस्तगत कर लेने की अभिलाषा हो तो वही करना चाहिए जो अब तक के उदारचेता या महामानव अपनाते और उससे प्रेय तथा श्रेय का दुहरा लाभ उठाते रहे हैं। संत, सुधारक, शहीद और सेवाभावी अपनी उदारता के बल पर ही मनुष्यों से लेकर देवताओं तक के वरदान हस्तगत करते रहे हैं। तपश्चर्या अपनाए बिना किसे विभूतियों और सिद्धियों का वरदान हस्तगत हुआ है ?

पूँजी क्या इसी आधार पर जमा होती है कि लिया अधिक और दिया कम जाए ? संसार से हम आए दिन कितना लेते हैं, इसका बही-खाता रखने की किसी को भी फुरसत नहीं है। व्यवसाय के लिए जो पूँजी कहीं से ली जाती है, उसे बाद में ब्याज समेत चुकाना पड़ता है। यह नियम शाश्वत होते हुए भी हर कोई अपने को इस व्यवस्था से पूरी तरह छूट दिलाना चाहता है। यहाँ हर किसी को हर किसी से कुछ न कुछ लेना ही है। देने के नाम पर अँगूठा दिखा देने या दाँत निपोर देने के अतिरिक्त और कुछ जैसे सूझ ही नहीं पड़ता।

तो क्या सचमुच ही ऐसा है कि कुछ महत्त्वपूर्ण पाने के लिए, वैसा ही कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य किए बिना काम नहीं चल सकता ? इस प्रश्न का प्रत्युत्तर दसों दिशाओं से गूँजते सुना जा सकता है कि "दो और पाओ", "बोओ और काटो", "बाँटो और झोली को कभी खाली होते न पाओ।" इस शाश्वत सत्य को कृपणता अनादि काल से झुठलाती चली आ रही है, फिर भी यथार्थता को अपने स्थान से एक इंच भी हटाया नहीं जा सका है।

प्रश्न फिर घूमकर वहीं आ जाता है, कि जब अधिकांश लोग अभावों से ग्रसित हैं और गरीबी की रेखा से नीचे रहकर दिन काटते हैं, तब दान-पुण्य की परंपरा चरितार्थ कैसे हो ? इस प्रश्न में बालकों जैसी भोलेपन की झलक-झाँकी मिलती है। समझा जाता है कि धनदान ही एक मात्र दान है, क्योंकि हर जगह उसी का बोलबाला दीख पड़ता है। चर्चा और प्रशंसा उसी की होती है। प्रचलन को देखते हुए ऐसी मान्यता बन जाना कुछ आश्चर्यजनक भी नहीं है। जो रिश्वत की उपहार की करामात जानते हैं, उनका दावा

है कि बेचारा मनुष्य तो चीज ही क्या है ? देवताओं तक को भेंट उपहार के स्तवन, मनुहार के सहारे अपने पक्ष में बनाया जा सकता है। भले ही वह अनुग्रह कितना ही अनैतिक व अवांछनीय क्यों न हो, इस मान्यता वालों का एक बड़ा समुदाय है।

ऐसी दशा में यदि दान शब्द का अर्थ धनदान के साथ जुड़ गया हो और फिर मनोविनोद तक के लिए किए जाने वाले अपव्यय को भी, खर्च की मद में लिखे जाने के कारण दान समझा जाने लगा हो, इसमें आश्चर्य ही क्या है ? पूजा पाठ में एक विधि पशुवध की भी सम्मिलित थी और उसे बलिदान कहा जाता था। हरिजनों को कभी जूठन दान दिया जाता था, जिसे अब उन्होंने अपमान माना है और लेना अस्वीकार कर दिया है। रोगियों के उतरे हुए कपड़े कभी जाति विशेष के लोग खुशी-खुशी ले जाते थे, पर अब इस "उतरन-दान" को स्वाभिमानी-नितांत निर्धन भी स्वीकार नहीं करते। विवाह शादी की धूमधाम में उलीचा गया धन कन्यादान, वागदान आदि नाम से जाना जाता है। इस प्रकार दान शब्द का दुरुपयोग जहाँ-तहाँ भ्रांतियुक्त रूपों में देखा जा सकता है।

संग्रहित धन को आयकर से बचत हेतु किसी मान्यता प्राप्त संस्था को दान देकर दुहरा लाभ उठा लिया जाता है—टेक्स की बचत और दानवीरों की श्रेणी में अपनी गिनती। चंदा माँगने वालों का दबाव, कुटुंबी संबंधियों पर अनुग्रह, तीर्थयात्रा के नाम पर पर्यटन पिकनिक भी दान है। मनोरंजन के लिए उद्यान, पार्क स्विमिंग पूल इत्यादि बना देना भी जनहित कहकर मन को समझाया जा सकता है। रिश्वत में दी गई राशि भी उदारपूर्वक दी जाने के कारण दान ही है। यहाँ तक कि नशा पीने से पहले उसे शंकर भगवान को अर्पण कर दिए जाने पर वह भी भोग प्रसाद बन जाता है। यश के लिए कहीं पैसा देकर प्रतिष्ठा प्राप्त करना और उस "इमेज" का लाभ किसी दूसरी प्रकार से भुना लेना भी दान की श्रेणी में गिना जा सकता है। इस प्रकार दान शब्द व्यवहार में जिस ढंग से प्रयुक्त होता है, उसे आदान-प्रदान कहा जाए तो अधिक उपयुक्त हो सकता है।

दान को पुण्य उसी आधार पर कहा जा सकता है कि उसको प्रामाणिक माध्यमों से उच्चस्तरीय सत्प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त किया

जाए। इसके विपरीत इस मद में खर्ची गई राशि यदि आलस्य प्रमाद, पाखंड, प्रवंचना, दुर्व्यसन, अंधविश्वासों के विस्तार में निमित्त कारण बनती है, तो उससे ठीक उलटा प्रतिफल भी हो सकता है। परिणाम और प्रयोग के साथ जुड़ी हुई उत्कृष्टता ही पुण्य का आधार बनती है और उसकी प्रतिक्रिया पुण्य के साथ जुड़ने वाले, अनेक कल्याण कारक रूपों में सामने आती हैं। इसके विपरीत यदि उससे दुर्जनों का, दुष्प्रयोजनों का परिपोषण हुआ, तो समझना चाहिए कि वह देने की तरह खर्च किए जाने पर भी, ऐसे दुष्परिणाम उत्पन्न कर सकती है, जो अपने तथा दूसरों के लिए नरक वास जैसे अनेकों संकट खड़े करती है।

प्रवंचनाओं के अतिरिक्त दान क्षेत्र में और भी अनेकों व्यवधान हैं। मुफ्तखोरी की आदत बढ़ाना, किसी के अधःपतन का द्वार खोलना है। आपत्तिग्रस्तों को सामाजिक सहायता देकर उन्हें अपने पैरों खड़े होने की स्थिति तक पहुँचा देना एक बात है, किंतु मुफ्तखोरी की आदत डालकर वैसा स्वभाव बना देना एक प्रकार से भले चंगे को अपाहिज बना देने के समान है।

ऐसी दशा में यह अति विचारणीय है कि न्यायोपार्जित धन इतनी मात्रा में कहाँ से पाया जाए, जिसे प्रशंसा पाने योग्य स्तर पर दान के नाम पर बिखेरा जा सके। वस्तुतः धनिकों का दान उनके संचित पापों का प्रायश्चित है। फोड़े में भरे स्वाद को निचोड़ देने में, चीरा लगाने वाले की अपेक्षा उसे निकालने देने वाले की भलाई अधिक है।

औचित्य इस बात में है कि हर व्यक्ति औसत नागरिक स्तर का जीवन जिए। "सादा जीवन उच्च विचार" की नीति अपनाए। न्यायोचित पसीने की कमाई पर संतोष करे। चोरी बदमाशी का इस हेतु प्रयोग न करे। यदि अपने खर्च से बच जाता है तो उसे बिना रोके अवांछनीयताओं जैसी अव्यवस्थाओं से निपटने के लिए खर्च कर दें। सत्प्रवृत्तियों के संवर्धन की व्यवस्था न जुट पाने से ही श्रेष्ठता और प्रगतिशीलता की पौध सूख रही है। उसे सींचने के लिए जो कुछ बन सकता हो करें। यही सत्युगी परंपरा रही है, यही किया भी जाना चाहिए।

अवसर प्रमाद बरतने का है नहीं

मनुष्य शरीर की संरचना अन्य प्राणियों की तुलना में इतनी अधिक समुन्नत है, कि उसे निर्वाहजन्य कोई असुविधा सहन करनी पड़े, इसका कोई कारण ही दृष्टिगोचर नहीं होना चाहिए। जब सभी जीव-जंतु क्रीड़ा-कल्लोल करते हुए जीते हैं—कुदकते, फुदकते चहचहाते दिन गुजारते हैं, तो फिर विकसित मनुष्य को ही ऐसी कठिनाइयों से घिरा क्यों पाया जाना चाहिए, जिनसे कि वह इन दिनों बुरी तरह ग्रसित देखा जाता है ? रोग, शोक, अभाव, क्लेश, विद्वेष, अशांति के अनेकानेक कारण गर्दन दबोचे रहते हैं। चिंताओं आशंकाओं से दिल धड़कता रहता है। हर कोई अपने-अपने ढंग की अनेकानेक समस्याएँ गिनाता है और आपत्तिग्रस्तों की तरह अपने को दयनीय परिस्थितियों में फँसा पाता है। इसे आश्चर्य ही कहना चाहिए, कि सृष्टि के समस्त प्राणियों की तुलना में हर दृष्टि से सुसंपन्न प्राणी, इस तरह दिन गुजारे-मानों विपन्नताओं ने सभी ओर से घेर रखा हो ?

तनिक गंभीरता से विचार करने पर कारण स्पष्ट हो जाता है। वासना, तृष्णा और अहंता के निविड़ भव-बंधनों ने उसे ऐसी बुरी तरह जकड़ रखा है, कि चौबीसों घंटे उन्हीं उलझनों द्वारा कसे गए जाल-जंजाल बेतरह त्रास देते रहते हैं। लोभ, मोह और अहंकार की पूर्ति के लिए मनुष्य इतना आकुल-व्याकुल बना रहता है कि "और अधिक चाहिए" के अतिरिक्त न तो कुछ सोचते बनता है और न ऐसा कुछ समाधान ढूँढ़ने के लिए उत्साह उमंगता है, कि मकड़ी की तरह अपने बुने हुए जाल को समेटने और जकड़न से भाग पाने का मार्ग खोजा जा सके।

स्वाभाविक आवश्यकताएँ स्वल्प हैं। उन्हें कुछ ही घंटों में अपने बलबूते ही पूरा किया जा सकता है। किसी से माँगने की तो आवश्यकता ही नहीं पड़नी चाहिए। अपना उत्पादन ही इतना अधिक है कि उसे यदि उर्वर भूमि में बोया जा सके, तो एक से हजार, हजार से लाख का सिलसिला अनवरत रूप से चलता है और

प्रसन्नता से लेकर प्रफुल्लता तक का आनंद हर घड़ी अनुभव किया जा सकता है।

जीवधारी का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह है कि उसे उल्टी बुद्धि से पाला पड़ता है। फलतः जिस डाल पर बैठता है, उसी को काटता है। पतंगे को न जाने क्या लगता है कि जलते दीपक पर झपटता है और उससे कुछ पाना तो दूर, अपने पंख जलाकर बिलखता-कलपता हुआ मरता है। चिड़ियों और मछलियों को बिना परिश्रम का चारा सुहाता है, पर यह नहीं दीखता कि इसके साथ कितना प्राण घातक जाल बना है। बालू को जलाशय समझने वाला हिरण, मृगतृष्णा में भटकता प्यास-प्यास करता मरता है और नाहक बदनाम होता है। कस्तूरी के हिरण पर न जाने क्या ऊत चढ़ती हैं, कि नाभि से निकलने वाली गंध को कहीं अन्यत्र खोजता और थक-थक कर दम तोड़ता है। कुत्ता सूखी हड्डी चबाकर मुँह से निकलने वाले रक्त को उसका रस समझकर अपने खून का प्यासा आप बनता है।

मनुष्य से यह आशा की जाती है कि वह बुद्धिवादी कहे जाने के कारण अधिक समझदारी का परिचय देगा। देता भी है, किंतु जहाँ तक लालच बटोरने का प्रश्न है, वह उस पागल जैसा आचरण करता है, जो कूड़े में से निरर्थक चीजें बीनकर झोली भरता है और फिर उसमें आग लगाकर लपटें उठाने की सफलता पर अट्टहास करता है। अंधी भेड़ें एक के पीछे एक चलती और एक ही खड्ड में गिरकर मरती हैं। टिड्डयों का समुदाय तो बड़ा होता है, पर जब वह उड़ने योग्य होता है तो किसी भी दिशा में दौड़ पड़ता है। फलतः वे सभी किसी रेगिस्तान में झुलसती या समुद्र जैसे जलाशय में डूबकर मरती है। ऐसा ही कुछ मनुष्य भी करने लगे तो हैरत होती है, कि बाहरी दुनिया में चकित कर देने वाली करामातें दिखाने वाला मनुष्य, अपनी बारी आने पर क्यों इतना मूर्ख बनता है, कि खुशी से आत्मघात करने के लिए साज सँजोए और रोकने-समझाने वाले से ताल ठोक कर लड़ने आए।

चतुरता और बुद्धिमत्ता को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। एक वह है कि जो दुनिया के अन्यान्य क्रिया-कलापों में [illegible] सफलता प्राप्त कर दिखाती है। इसके ऊपर

नीति-अनीति का दबाव प्रायः नहीं के बराबर होता है। जिस प्रकार भी अपना उल्लू सीधा होता है, उसी को बहिरंग पक्ष ग्राह्य मानता है और बिना किसी हिचक के कर दिखाने के लिए जमीन-आसमान के कुलाबे मिलता है।

मनुष्य का अंतरंग पक्ष वह है, जिसमें मर्यादा को प्रमुखता मिलती है। समझदारी, ईमानदारी, जिम्मेदारी, बहादुरी की कसौटी पर कसने के उपरांत ही कोई निर्णय किया तथा कदम उठाया जा सकता है। इसमें अपनी तरह दूसरों के हितों का भी ध्यान रखा जाता है इस संदर्भ में आत्मा का परमात्मा का अभिमत भी सुना जाता है।

इन दिनों बहिरंग पक्ष को ही प्रमुखता मिल रही है। यदि गौरवर्ण, युवावय और साज-सज्जा आकर्षक हो, यह देखने की आवश्यकता नहीं समझी जाती कि पर्दे के पीछे एड्स, सिफिलिस, टी. वी., कैंसर जैसे रोगों के विषाणु संपर्क में आने वाले पर छूत का आक्रमण करने को तैयार तो नहीं बैठे हैं ? चालक और उदंड व्यक्ति हर कहीं रौब गाँठते और किसी को भी डराने-दबाने में सफल होते हैं। संपन्नों में भी अधिकांश लोगों की संपदा औचित्य के सहारे की कमाई हुई नहीं होती। नेतृत्व स्तर की आदर्शवादी स्पीचें झाड़ने वाले, बहुधा रंगे सियार और बगुला भगत पाए जाते हैं। इसके ठीक विपरीत ऐसे लोग भी होते हैं, जो प्रामाणिकता और प्रखरता को अक्षुण्य बनाए रखने के लिए बड़े से बड़ा कष्ट सहने और ऊपर से दूनी कीमत चुकाने के लिए भी तैयार होते हैं। उनकी काया नहीं, चरित्र प्रेरणा का स्त्रोत बनता है और असंख्यों को ऊँचा उठाने, आगे बढ़ाने में सफल होता है। इसलिए महामानवों को ऐसे ही लोग गढ़ते और मानवीय उत्कृष्ट आदर्शवादिता की रक्षा करते हैं।

किंतु उन अनगढ़ों को क्या कहा जाए जो चतुरता, विडंबना और ठाठ-बाट की सज्जा के अतिरिक्त और किसी का लोहा मानने के लिए ही तैयार नहीं होते ? बहुमत इसी विडंबना का होने से, लोगों का झुकाव भी उन्हीं की ओर पाया जाता है। इसलिए तथाकथित लोकमत को न तो मान्यता दी जा सकती है और न उसके [illegible] होती है।

बड़ों का विस्तार देखकर चमत्कृत होने की अपेक्षा, औचित्य इसी में है कि महानता का अवलंबन लिया और अभिवंदन किया जाए; भले ही वह दुर्बल या पराजित ही क्यों न रही हो।

यहाँ चर्चा बड़ों की नहीं की जा रही है, क्योंकि वे पानी के बबूले की तरह उबलते और तनिक-सी उछल-कूद दिखाकर अदृश्य के गर्त में समा जाते हैं। यहाँ विवेचन उनका हो रहा है, जिन्हें किसी भूखंड या समुद्र में दीप्तिमान प्रकाश स्तंभ कहते हैं। शेषनाग फन पर धरती को धारण किए हैं या नहीं, इसमें मतभेद हो सकता है; पर यह बात निर्विवाद है कि मनुष्यता की गरिमा और महिमा मात्र उन आदर्शवादियों के कंधे पर टिकी हुई है, जिनसे चिरस्थायी शांति और प्रगति की आशा की जा सकती है। विचारशील और विवेकवान इन्हीं को कहा जा सकता है।

चतुर लोग प्रचलित क्रिया-कलापों में अपनी विशिष्टता का परिचय देते और जिस-तिस प्रकार लाभ अर्जित कर दिखाते हैं किंतु विवेकवानों को तो वही सोचना एवं कराना पड़ता है, जिससे मर्यादाएँ निभती रहें और शालीनता की उमंगें उभरती रहें; ऐसे गौरवशाली मान्यता के धनी लोगों के सामने तीन समस्या प्रमुख रहती हैं। एक यह कि अन्य प्राणियों के लिए सर्वथा दुर्लभ इतना कलात्मक जीवन सृष्टा ने किस प्रयोजन के लिए प्रदान किया तथा उस विशिष्ट अनुदान का अधिकारी समझा ? दूसरा यह कि जो आवश्यक साधन एवं वैभव प्राप्त है, उसका आज की परिस्थितियों में सर्वश्रेष्ठ उपयोग क्या हो सकता है ? तीसरा यह कि जन्म की तरह मरण निश्चित है। वह कल भी हो सकता है और परसों भी। तब जिस दरबार में हाजिर होना होगा, वहाँ किस प्रकार, किस रूप में अपनी जीवनचर्या का निर्धारण प्रस्तुत करना पड़ेगा ? इन तीन प्रश्नों की सही उत्तर देने के लिए, जो व्यक्ति परीक्षार्थी जैसी तैयारी करता है, जो सही उत्तर देकर ससम्मान उत्तीर्ण होता है, समझा जाना चाहिए कि उसने मनुष्य जीवन के महत्त्व समझा और तदनुरूप व्यवहार करके उपलब्धियों को सार्थक कर दिखाया। ऐसे लोग संख्या में भले ही थोड़े हों, पर प्रतिभा प्रखरता और प्रामाणिकता से संपन्न उन्हें ही कहा

जिन्हें इन प्रश्नों से कुछ लेना-देना नहीं है, जो इस तरह कभी सोचते नहीं, सोचने की आवश्यकता नहीं समझते, फुरसत नहीं पाते वे मनुष्य समुदाय के घटक तो हो सकते हैं, पर वे वस्तुतः किसी अन्य लोक के प्राणी ही कहे जा सकते हैं। व्यंग में उन्हें पृथ्वी के यक्ष गन्धर्व, किन्नर भी कह सकते हैं। फूहड़ शब्दों में इन्हें बड़े आदमी चतुरता के धनी, बहेलिये, कलावंत भी कहा जा सकता है। वे अपनी चतुरता के बल पर, खोटे सिक्के की तरह दाँत लगाने पर चले तो जाते हैं, पर मनुष्यता की हर कसौटी पर अनुपयुक्त ही सिद्ध होते हैं। खरे सोने वे हैं जो कसौटियों पर कई जाने और आदर्शों की आग में तपने पर भी अपनी गरिमा अक्षुण्य बनाए रहते हैं। वही तो पवन की तरह प्राण बाँटते हैं, बादलों की तरह बरसते और सूर्य की तरह स्वयं प्रकाशवान-गतिशील रहकर, हर कहीं आभा और ऊष्मा बिखेरते हैं। इन्हीं के लिए उन तीन प्रश्नों का उत्तर सही रूप दे सकना संभव होता है कि जीवन किसलिए मिला है ? उसके साथ किन कर्तव्य उत्तरदायित्वों का अनुबंध जुड़ा ? और सृष्टा के दरबार में पहुँचने पर, गर्दन ऊँची उठाकर अपने क्रिया कलापों का संतोषजनक विवरण प्रस्तुत करते बन पड़ा ?

पेट प्रजनन के लिए तो कृमि-कीटक भी जी लेते हैं। दोनों प्रयोजनों को वे अधिक निश्चिंततापूर्वक पूरा करा लेते हैं। फिर मनुष्य जीवन जैसी सुर दुर्लभ, सृष्टा की अनुपम कला कृति का भी निष्कर्ष इतना ही निकला, तो समझना चाहिए कि दुर्भाग्य की चरम सीमा हो चली। मनुष्य का अगला स्तर देवता है। उसकी प्रगति के लिए उपयुक्त पद यही है। इसके विपरीत चौरासी लाख के कुचक्र में भ्रमण करना और नारकीय दुर्गति में पिटते-पिसते रह जाना ही शेष रह जाता है। अच्छा हो उल्टा चलने और औंधे मुँह गिरने की नीति ही अपनाई जाए।

साधारण समय में साधारण रीति से भी सोचा और धीमा कदम उठाया जा सकता है; किंतु कभी-कभी ऐसे समय भी आते हैं, जिनमें निर्णय तुरंत करने और कदम अविलंब उठाने पड़ते हैं। पड़ोस में अग्नि कांड भड़क रहा हो और उसकी चिनगारियाँ अपने छप्पर तक पहूँच रही हों, तो ऊँघते नहीं रहा जा सकता। गाड़ी प्लेटफार्म पर

पकड़ने में फुर्ती ही दिखानी पड़ती है। परीक्षा की अवधि में पूरी एकाग्रता से पर्चे हल करने पड़ते हैं। उन क्षणों में कुकल्पनाओं में निरत रहना भारी घाटे का सौदा होता है। दुर्घटना घटित होने पर आहत का उपचार तुरंत करना पड़ता है, अन्यथा रक्त स्राव न रुपने पर प्राण संकट का खतरा स्पष्ट है।

इन दिनों ऐसा समय है जिसमें एक पैर उत्थान की ओर दूसरा पतन की नाव पर रखा है। दोनों में से एक का चयन करने में विलंब नहीं किया जा सकता। अन्यथा विपरीत दिशा में जाने वाली नौकाएँ नसमजस वाले मुसाफिर का कबाड़ा ही बनाकर रख देंगी। गया समय फिर वापस लौटता कहाँ है ? हनुमान ने, विभीषण ने, अर्जुन ने, बुद्ध ने अपने निर्णय तत्काल कर लिए थे। यदि वे बात को फिर कभी के लिए टालते रहते, तो उस सुयोग से वंचित ही रह जाते, जो उन्हें समय को पहचान लेने के कारण सरलतापूर्वक उपलब्ध हो सका। फसल के बोने और काटने की कुछ दिन की अवधि निर्धारित रहती है। जो उसे गँवा देते हैं उनके हाथ से फसल की आधी कमायी निकल जाती है। प्रमाद यों सदा ही अतिशय घाटे का निमित्त कारण है, पर कई बार अलभ्य अवसर सामने होता है और वह अवसर अन्यमनस्कता तनिक भी सहन नहीं करता। घुड़दौड़ में अच्छे घोड़ा वाला भी यदि अस्त-व्यस्त गति का हो, तो उसके हाथ पराजय के अतिरिक्त और क्या लगने वाला है ? नारद का परामर्श मानने में जिन्होंने आना-कानी नहीं की वे ध्रुव, प्रहलाद, उमा, सावित्री की तरह अजर-अमर हो गये। अन्यथा मूढ़ मति, बहुमूल्य संकेतों और संदेशों को भी इस कान सुनते और उस कान निकालते रहते हैं। ज्ञान की सार्थकता कर्म के साथ जुड़ने पर ही बन पड़ती है। इस प्रयोजन को चरितार्थ करने का ठीक यही समय है।

❑ ❑

अभूतपूर्व अवसर जिसे चूका न जाए

समय साधारण भी होते हैं और असाधारण भी। साधारण समय को जिस-तिस प्रकार काट लेना भी बहुत भारी नहीं पड़ता, पर जब निर्णायक घड़ियाँ हों, तो फैसला करने में अचकचाते रहना असमंजस में अवसर गँवा देना बहुत भारी पड़ता है। समर्थ गुरु रामदास को विवाह मंडप में जब 'सावधान' कहा गया तो उन्होंने उस संकेत को कप्तान के अनुशासन की तरह शिरोधार्य किया। बाहरी संकेत को अंतरात्मा ने गंभीरतापूर्वक अपना लिया, तो वे वह बन गए, जिसका महत्त्व राष्ट्र उद्धारक के रूप में अनादिकाल तक स्मरण किया जाता रहेगा। शंकराचार्य, विवेकानंद, दयानंद, बिनोबा आदि ने भी अपना लक्ष्य निर्धारित करने में वर्षों का समय नहीं गँवाया था। ईसा सच ही कहते थे कि 'महानता अपनाने के लिए बाँया हाथ सक्रिय हो तो उसी से पकड़ लें। ऐसा न हो कि दाहिना हाथ सँभालने की थोड़ी-सी अवधि में ही शैतान बहका ले और जो सुयोग बन रहा था वह सदा के लिए अपनी राह चला जाए।'

प्रसवकाल की लापरवाही जच्चा और बच्चा दोनों के प्राण हरण कर सकती है। मोटर-दुर्घटनाओं में भी ड्राइवर की तनिक-सी असावधानी गजब ढा देती है। निशाना साधने वाले का हाथ जरा-सा हिल जाए तो तीर कहीं से कहीं चला जाएगा। मनुष्य का जीवन ऐसा ही अलभ्य अवसर है, यह किसके पास कितने दिन ठहरेगा, इसकी कोई गारंटी नहीं है। कौन जाने आज का सोया व्यक्ति कल उठने से पूर्व ही सदा-सर्वदा के लिए आँखें बंद कर ले। जब शंकराचार्य, विवेकानंद, रामतीर्थ जैसे महामानव भरी जवानी में उठ गए, तो कौन इस बात को विश्वासपूर्वक कह सकता है कि किसे, कितने दिन जीने का अवसर मिल ही जाएगा। ऐसे अलभ्य अवसर का निर्णायक निर्धारण कर लेने में ही बुद्धिमानी है।

यह युग संधि की बेला है। बीसवीं सदी विदा हो रही है और इक्कीसवीं सदी का प्रभात पूर्व की तरह अरुणोदय हो रहा है। युग संधि का अवसर असाधारण है। ऐसे ही अवसर पर मेघ घहराते और

पेड़-पौधे तक बसंती परिधान ओढ़कर सहते हैं। जन्म का आरंभ और मरण का समापन भी कुछ विचित्र प्रकार का माहौल बनाते और नई तरह के संवेदन उभारते हैं। इन दिनों भी ऐसा ही कुछ होना है। जीवंतों को कुछ ऐसे निर्णय करने पड़ रहे हैं, जो उनकी गरिमा के अनुरूप हों।

इन दिनों मनुष्य जाति का भाग्य नए कागज पर, नई स्याही से, नए सिरे से लिखा जा रहा है। इस उथल-पुथल में हमारा स्थान कहाँ हो, यह चयन करने का ठीक यही अवसर है। पीछे तो जहाँ जिसका, जिस प्रकार नियोजन होगा, उसे उसी जगह अपने को विवश बादल की तरह खड़ा रहना पड़ेगा। रेल में चलते समय जो जहाँ बैठा लेता है, उसे यात्रा के अंत तक वहीं पर जमा रहने का अवसर मिल जाता है।

रंगमंच पर किस पात्र को क्या भूमिका निभानी है ? इसका निश्चय पहले ही हो जाना है। पर्दा खुलने पर तो अभिनय की निर्धारित प्रक्रिया ही दुहरा भर लेने का उपक्रम शेष रह जाता है। युग संधि की इस वेला में न्यायाधीश के फैसले की तरह हर जीवंत को यह निश्चय करना है कि उसकी अगली भूमिका किस स्तर की हो ?

विवाह शादी के धूमधाम वाले दिनों में, घर के हर छोटे-बड़े का उनकी क्षमता के अनुरूप छोटा-बड़ा योगदान होता है। चुप पड़े रहना और सहयोग न देना मात्र उन्हीं से बन पड़ता है, जिन्हें रुग्णता अथवा अपंगता ने निष्क्रिय रहने के लिए विवश कर दिया है। शेष को तो उत्सव के साथ जुड़ी हुई उमंगें ही कुछ न कुछ ऐसा करने के लिए विवश कर देती हैं, जिससे आयोजन में किसी न किसी प्रकार की सहायता मिले। विपरीत परिस्थितियों में भी ऐसी ही सक्रियता जगती है। घर के किसी उपयोगी साथी के मरने पर परिवार भर को विलाप करते देखा जाता है। सभी श्मशान को चलते हैं। परिवर्तन के महत्त्वपूर्ण अवसर अपने साथ कुछ जिम्मेदारियाँ लेकर आते हैं। इससे इन्कार करने वालों पर दर्शकों तक का तिरस्कार बरसता है।

इन परिवर्तनों के क्षणों में दिवाली की तरह सभी घरों से कूड़ा-करकट बुहारा जाएगा। लिपाई-पुताई और रंग-रोगन करके घर-आँगन सजाया जाएगा। भले ही स्थान और साधन कितने ही सीमित क्यों न हों। होली के दिनों में बीन-बीन कर झंखारों का कचरा इक्कट्‌ठा किया और जलाया जाता है, साथ ही सब लोग गले मिलते और प्रसन्नता के अभिवादन भी करते हैं। होली-दिवाली पर हलचल रहित घर कदाचित ही कहीं देखे जाते हैं। खंडहरों तक में पूर्वजों के नाम पर दीपक जलाकर रखे जाते हैं।

इन दिनों इतिहास का अभिनव अध्याय लिखा जा रहा है। इसमें हम में से हर किसी का ऐसा स्थान और योगदान होना चाहिए, जिसकी चर्चा पीढ़ियों तक होती रहे। जिसकी स्मृति हर किसी को प्रेरणा दे सके, कि सोचना किस तरह चाहिए और चलना किस दिशा में, किस मार्ग पर चाहिए ? दीपक छोटा होते हुए भी अपने प्रभाव क्षेत्र में प्रकाश प्रस्तुत करने और यथार्थता से अवगत कराने से, घनघोर अंधेरे को भी परास्त करने में सफल होता है; भले ही इस प्रयास में उसे अपने तेल-बत्ती जैसे सीमित साधनों को भी दाँव पर लगाना पड़े। क्या हमारा मूल्य दीपक से भी कम है ? बात ऐसी तनिक भी नहीं, मात्र कृपणता का तूफान ही है जो श्रेय पथ पर चलने देने में, पग-पग पर अड़चन उत्पन्न करता है। लोगों ने बड़े-बड़े काम किए हैं। क्या हम उसे स्वेच्छापूर्वक अपनाई गई कृपणता को घटा या हटा नहीं सकते, जिसके कारण जीवन के अंतरंग और बहिरंग पक्षों को आत्म प्रताड़ना और लोक-भर्त्सना सहते रहने के अतिरिक्त और कुछ भी तो हाथ नहीं आता ?

आदान-प्रदान संसार का शाश्वत नियम है। नेकी का बदला कृतज्ञता के रूप में चुकाया जाता है, पर उसके लिए सब कुछ निछावर कर दिया जाता है, जो आड़े समय में काम आते हैं। शबरी, गिलहरी के छोटे-छोटे अनुदान भी अजर-अमर हो गए, क्योंकि उनमें भगवान का गहरा संपुट लगा हुआ था। नारद इसलिए देवर्षि बने और भगवान के दरबार में कभी भी बिना रोक-टोक जा पहुँचने के अधिकारी बने, कि उन्होंने भगवान की भक्ति के प्रचार में अपने आपको पूरी तरह समर्पित कर दिया था। हनुमान के उपासकों की संख्या राम भक्तों से कहीं अधिक है। कारण कि उन्होंने राम की आडे

वक्त में प्राणपण से सहायता की है। वे अपने कंधों पर राम-लक्ष्मण दोनों को बिठाए फिरे थे। राम ने भी उन्हें अपना वरिष्ठ पाँचवा भाई घोषित किया था।

इन दिनों सृष्टा की अदम्य और प्रचंड अभिलाषा एक ही है कि सड़ी दुनिया को बदलने में, उसके लिए कायाककल्प जैसा नया सुयोग बनाया जाए। यही है कि इक्कीसवीं सदी बनाम उज्जवल भविष्य। यही है मनुष्य में देवत्व का उदय एवं प्रतिभा परिष्कार का महाअभियान। इसी को लोग विचार क्रांति की लाल मशाल का प्रज्ज्वलन भी कहते हैं। इस दैवी उत्कंठा की पूर्ति में जो जितने सहायक बनेंगे, वे उतने ही अपने को समग्र रूप से कृतकृत्य हुआ अनुभव करेंगे।

❑ ❑

समयदान-महादान

दान करने से पुण्य प्राप्त होता है, इस कथन के पीछे यह मान्यता रही है कि उसे श्रद्धा भरी भाव-संवदेना से, सत्प्रयोजनों के लिए ही देने की मर्यादा का ध्यान तो रखा ही गया होगा। यदि ऐसा नहीं है एवं उसके साथ दुरभिसंधियाँ जुड़ी रहें, तो प्रतिक्रिया एवं परिस्थिति के अनुरूप वह पाप के समकक्ष है और देने तथा लेने वाले दोनों को ही बदनाम करने के साथ-साथ उनके लिए अनर्थ भी उत्पन्न कर सकता है। इसलिए दान भावना को चरितार्थ करने के साथ-साथ उत्कृष्टता और विवेकशीलता की शर्त भी पूरी कर ली गई होगी, यही अपेक्षा रखी जाती है। ऐसा होने पर ही यह आशा की जाती है कि दान के साथ जुड़ा हुआ पुण्य परमार्थ, सभी के लिए सब प्रकार श्रेयस्कर होगा।

दान के साथ इन दिनों अनेकानेक संदेहों का समावेश हो गया है, जिनका संकेत इस पुस्तिका के आरंभिक पृष्ठों पर ही किया जा चुका है। इतने पर भी, धन का इतना संचय किन्हीं विरलों के पास ही होता है कि किसी महत्त्वपूर्ण कार्य को पूरा कर सकने में जितनी

मात्रा दी जा सके। भामाशाह जैसे धनवान में राणा प्रताप जैसों को विपुल राशि दे सकने की सामर्थ्य थी। दानी हरिश्चंद्र या कर्ण बनने के लिए पूर्व संचित संपदा के साथ-साथ ऊँचे स्तर की विवेकशीलता एवं उदारता भी तो होनी चाहिए। ऐसे संयोग कदाचित् ही किन्हीं विरलों को हस्तगत होते हैं। अन्यथा "मूर्खों का माल मसखरे खाते हैं।" की उक्ति चरितार्थ होती और अपयश के साथ ही दुष्परिणाम भी उपार्जित करती है।

धन भौतिक पुरुषार्थ और सुयोगों के संयोग का प्रतिफल है। इस स्थिति को प्राप्त कर सकना इन दिनों सभी के लिए संभव नहीं है। ऐसी दशा में पुण्य-परमार्थ के लिए धन दान को गौण मानकर, दृष्टि उस संपदा पर जमानी होगी, जो हर किसी को सृष्टा ने उदारतापूर्वक प्रदान की है वह है—"समय"। समय की कड़ियों से जुड़कर ही जीवन श्रृंखला विनिर्मित होती है। उसका उदार उपयोग तभी बन पड़ता है जब प्रयोजन में गहरी रुचि हो। अरुचिकर काम चाहे कितने ही अच्छे समझे जाते हों, उनके लिए मन में इच्छा ही नहीं होती। जिस कार्य में मन नहीं लगता वह या तो प्रारंभ ही नहीं होता; या फिर आधा-अधूरा—काना कुबड़ा भर रहकर बीच में ही छूट जाता है।

दान-परिवार में, धन के उपरांत दूसरे पदार्थ "समय" की ही गणना होती है। वह सर्व साधारण के लिए सुलभ भी है और उसके सदुपयोग की जाँच-पड़ताल मोटी बुद्धि से भी करते बन पड़ती है। विचारशीलों से परामर्श करने पर, उसके लिए सहज मार्गदर्शन भी मिल जाता है। स्वार्थी बहुत देर तक उसका अनुचित शोषण भी नहीं कर पाते।

श्रम जनित स्वेदकणों की तुलना मणि-मुक्तकों से की गई है। महामानवों के श्रेष्ठ सत्कार्य इसी आधार पर बन पड़े हैं। समय दान के साथ-साथ भाव श्रद्धा का गहरा पुट लगा रहना आवश्यक है, अन्यथा व्यस्तता जैसे अनेकों बहाने सहज अभ्यास के अनुरूप बन जाया करते हैं।

महान मनीषियों की साधना "समय" की तपशिला पर बैठकर [illegible] है। उन्होंने जो सोचा जो सृजा है उसके पीछे उनकी

तन्मयता भरी समय साधना ही रही है। वैज्ञानिकों-आविष्कारों ने अपना मानस और समय, प्रमुखतापूर्वक निर्धारित लक्ष्य पर केंद्रित न किया होता, तो सफलता की आशा कहाँ बन पड़ती ? लोक सेवियों ने अपने समय दान के सहारे एक से एक बड़े कार्य संपन्न कर दिखाए हैं। धन न सही, पर समय को साथ लेकर तो फरहाद जैसे साधनहीन भी अपनी दुकान के बल पर बत्तीस मील लंबी नहरें खोदकर ला सकने में सफल हो सकते हैं।

भारत की पुरातन गरिमा पर दृष्टिपात करते हैं तो उसके मूल में एक ही तथ्य उजागर होता है—साधु-ब्राह्मणों का वानप्रस्थ पुरोहितों का वर्ग न्यूनतम निर्वाह में अपने काम चलाता रहा और शेष सारा समय परिपूर्ण लगनशीलता के सहारे, लोक-मंगल की सामयिक आवश्यकताओं को पूरा करने में जुटाता रहा। उनकी सेवा-साधना ने जन-जन का मन जीता, इसीलिए उन्होंने उनके परामर्शों-प्रतिपादनों को जीवनक्रम में उतारने में कुछ उठा न रखा। व्यक्तित्वों में सन्निहित प्रतिभा इसी आधार पर, प्रसुप्ति से विरत होकर जागृतकर्म निष्ठा में परिणति हुई और सर्वतोमुखी प्रगति का वातावरण बन गया। यही है, सतयुग में समुन्नत वातावरण बने रहने का प्रमुख कारण।

अनाचारों की रोकथाम के लिए शासन का राजदंड भी काम करता है, पर सद्भाव संवर्धन के लिए धर्मतंत्र की भाव संवेदनाएँ ही समर्थ हो सकती हैं। सुख-शांति उसके ही अवलंबन से बन पड़ती है। उत्कर्ष, अभ्युदय और विकास का आधार भी इसी के सहारे खड़ा होता है। इतिहास साक्षी है कि भारतीय परिब्राजकों ने, विश्व के कोने-कोने में पहुँचने की कष्ट साध्य यात्राएँ संपन्न की और वहाँ के पिछड़ेपन को हटाने एवं उत्कर्ष का बहुमुखी सरंजाम जुटाकर, परिस्थितियों में जादुई परिवर्तन कर दिखाया। देशव्यापी आदर्शवादिता और उत्कृष्टता को अक्षुण्य बनाए रखने में, इसी साधु-ब्राह्मण वर्ग का ही अथक प्रयास कार्यरत रहा है। उपयोगिता और गरिमा का मूल्यांकन करने वालों ने उन्हें भूसुर-देव मानवों की पंक्ति में प्रतिपादित किया है।

भारतीय धर्मतंत्र का एक अनिवार्य पक्ष रहा है। वानप्रस्थ। सांसारिक प्रयोजनों में जीवन की आधी अवधि लगाने के उपरांत, शेष

आधी को लोकमंगल के लिए लगाया जाना आवश्यक माना जाता था। गृहस्थ की जिम्मेदारियाँ हलकी-फुलकी रखी जाती थीं। कोई बुद्धिमान ऐसे परिवारों का सृजन नहीं करता था, जिनका भार वहन करते-करते ही जिंदगी का कचूमर निकल जाए। जो गृहस्थ में प्रवेश करते थे, वे भी न्यूनतम संख्या में संतानोत्पादन आरंभिक दिनों में ही पूरा कर लेते थे; ताकि अधेड़ होते-होते घर-परिवार के बंधन से छूट सकें। स्वावलंबन और सुसंस्काररिता के लिए समुचित मार्ग दर्शन ही अभिभावकों का कर्त्तव्य रहता था। उत्तराधिकार में धन छोड़कर मरने की बात तो कोई सोचता तक न था। कमाऊ व्यक्ति मिल-जुलकर असमर्थ, अविकसितों का भरण-पोषण कर लेते थे। हर घर पीछे एक व्यक्ति, पूरे समय के लिए लोक मंगल के लिए समर्पित होता था। इसी में किसी गृहस्थ की शान समझी जाती थी। राजपूतों में से हर घर के पीछे एक व्यक्ति सेना में भर्ती होता था। सिखों में से एक को गुरु कार्यों के लिए समर्पित होकर रहना पड़ता था। उसके हिस्से में आने वाली जिम्मेदारियों को घर के अन्य लोग मिल-जुलकर पूरी कर लिया करते थे। यही थी वह महान परंपरा, जिसके कारण भारत भूमि "स्वर्गादपि गरीयसी" रही और यहाँ के नागरिक, देवमानव के रूप में समस्त संसार में प्रसिद्ध हुए। इन देव मानवों की साधनों ने ही इसको ज्ञान क्षेत्र में जगद्‌गुरु, विज्ञान क्षेत्र में चक्रवर्ती, शासन और व्यवस्था क्षेत्र में स्वर्ण संपदाओं का स्वामी बनाया था। इतिहास आज भी तुमुल नाद के साथ उद्‌घोष करता है कि उन पुरातन परंपराओं को यदि किसी प्रकार फिर जीवंत किया जा सके, तो सतयुग लौट आने की संभावना फिर सुनिश्चित हो सकती है। दुर्बुद्धि के दावानल में जलती हुई दुनिया को, फिर से नए वातावरण में साँस लेने की सुखद संभावनाएँ हस्तगत हो सकती हैं।

इन दिनों असल की नकल बनाने में मनुष्य की चतुरता ने कमाल हासिल कर लेने जैसी प्रवीणता प्राप्त कर ली है। खिलौने वाले की दुकान पर खड़े होकर जानकारी के सभी नमूने थोड़े-से पैसे खर्च करके खरीदे जा सकते हैं। इतना ही नहीं, जिस देवता को भी चाहें मिट्टी की मूर्तियाँ बिना किसी कठिनाई के खरीदी जा सकती हैं। इतने पर भी असली और नकली का अंतर लोग समझ ही लेते हैं। खिलौना-गाय, दूध कहाँ देती है ? खिलौना-हाथी की पीठ पर बैठकर

लंबा सफर कहाँ किया जा सकता है ? खिलौना-मुर्गी अंडे कहाँ देती है ?

यही बात सुखी और समुन्नत संसार में सतयुगी वातावरण बनाये रखने वाले देव-मानवों के संबंध में भी है। इन दिनों धर्मोपदेशक संख्या में साठ लाख के लगभग हैं। धर्म प्रचारक की आड़ में जिस-तिस बहाने अनुदान और सम्मान बटोरने वालों की इतनी बड़ी संख्या है कि आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। इतने धर्म सेवकों के रहते विश्व का न सही तो देश का अभ्युदय तो चरम स्तर का रहा ही होता, पर दीख इससे ठीक उल्टा पड़ता है। जिन्हें देश का, विश्व का भार उठाना चाहिए था, वह उलटे भारभूत बन कर रह रहे हैं।

यहाँ दानधर्म की विवेचना करते हुए, सर्वसुलभ समयदान की चर्चा की जा रही है और इस विचारणा में सम्मिलित होने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को आमंत्रित किया जा रहा है। देखना है कि लोक-मंगल के लिए समयदान की प्राचीन परंपरा को किसी प्रकार पुनर्जीवित कर सकना क्या संभव हो सकता है ? उज्ज्वल भविष्य की संरचना में प्रमुख भूमिका निभा सकने में समर्थ इस महान प्रचलन को अपनाने के लिए, विचारशील पीढ़ी में क्या नया उल्लास-आवेश उपजाया जा सकता है ?

वस्तुतः सच्चे अर्थों में समयदान करते तभी बन पड़ता है, जब अंतराल की गहराई से आदर्शों पर चलने के लिए बेचैन करने वाली टीस उठती हो। ऐसे लोग अपने प्राणप्रिय लक्ष्य की दिशा में बढ़ चलने के लिए आकुल-व्याकुल होकर तीर की तरह सनसनाते हुए चलते हैं। प्रलोभन और अवरोध उनके मार्ग में न आते हों सो बात नहीं है, पर उस ओर उपेक्षा बरते जाने पर उसका दबाव अनुभव नहीं होता। लगता है कि यह मच्छर काटने जैसा दिनचर्या का अंग है, जो ध्यान भर बँटाता है, पर ऐसा कुछ नहीं कर पाता जिससे मार्ग बदलने जैसा कुछ सोच आड़े आए। ऐसी दशा में उन अवरोधों और आकर्षणों का उनकी दृष्टि में कुछ महत्त्व ही नहीं रह जाता है, जो संकल्पहीन व्यक्तियों को बहकाने, बरगलाने, फुसलाने और रास्ता [illegible] देने के लिए पर्याप्त होते हैं।

पूर्व संचित कुसंस्कार, प्रचलन का प्रभाव, लालच का दबाव तथा कथित हितैषियों का प्रभाव मिलकर एक ही सूझ सुझाते हैं कि जिस तरह भी संभव हो, अधिकाधिक सुविधा-साधन जुटाना और उनकी मनमौजी उपयोग करना ही प्रसन्नता का मार्ग है। स्वार्थ ही सर्वोपरि है। अपनी सुविधा के बारे में ही सोचना चाहिए। इसके लिए दूसरों को असुविधा हो तो परवाह नहीं करनी चाहिए। औसत आदमी का मन इस दुहरी चाल को चलने में ही अपनी चतुरता अनुभव करता है और जब तब न्यूनाधिक सफलता भी उस दुरंगी चाल से प्राप्त कर लेता है।

पर यह सब एक प्रकार का प्रहसन-अभिनय भर है, जो मंच पर क्रीड़ा कौतुक दिखाकर पानी के बुलबुले की तरह समाप्त हो जाता है। छल छिपता नहीं। वस्तुस्थिति कल नहीं तो परसों प्रकट होकर रहती है। ऐसी दशा में यह बहुरूपियापन, विचारशीलों की दृष्टि में उपहासास्पद बनकर ही रह जाता है। बच्चे ही उस छलावे को न समझ पाने के कारण कुछ देर तक तालियाँ बजा सकते हैं। इस अर्थ प्रधान युग में किसी को भी खरीदकर, उससे कुछ भी कहलाया, कराया या लिखवाया जा सकता है। पर इस समूचे गठजोड़ में इतना दम नहीं होता कि प्रस्तुत प्रपंच को लंबे समय तक जीवित रख सके। उस खिलवाड़ से बालू के महल सजाए भले ही जाएँ, पर वे कुछ ही क्षणों में गिरकर धराशायी हो जाते हैं। ऐसी बिडंबनाएँ आए दिन रची जाती और उजड़ती देखी जा सकती हैं। इसे कौतक-कौतूहल के अतिरिक्त और क्या कुछ कहा जाए ? ऐसों का व्यक्तित्व उपाहासास्पद बन जाता है और पता चलने पर निकटवर्तियों से लेकर सहयोगियों तक सभी पल्ला झाड़कर अलग हो जाते हैं। सूक्तिकार ने ठीक ही कहा है कि "पाखंडी से बढ़कर अभागा और कोई नहीं, जिसका बुरे दिन में भी साथ दे सकने वाला कोई साथी सहयोगी नहीं बचता।"

यहाँ बड़े, महत्त्वपूर्ण, निःस्वार्थी, उपयोगी और प्रेरणाप्रद कार्यों की बातें चल रही हैं। वे मात्र उन्हीं से बन पड़ती हैं जिनकी आदर्शवादिता से जुड़ी हुई लगन, टीस बनकर हर घड़ी कसकती रहती है और समय ही नहीं कौशल और साधनों को भी अभीष्ट के पति समर्पित करने में गर्व-गौरव अनभव कराती है। संसार भर के

इतिहास का एक ही निष्कर्ष है कि आदर्शवादी घटनाक्रम, अभियान, आंदोलन चलाने और व्यापक बनाने में, मात्र वे ही लोग सफल हुए हैं, जिन्होंने उत्कृष्टता को अपनी जीवनचर्या का अविच्छिन्न अंग बनाया और आदर्शों को प्रतिष्ठापित करने में अपना सर्वस्व दाँव पर लगाया। समय दानी इन्हीं को कहते हैं। उनका प्रयास न तो बीच में रुकता है, न पथभ्रष्ट होता है, न गड़बड़ाता है। श्रेयधिकारी ऐसे ही लोग बनते हैं। महादानी इन्हीं को कहना चाहिए। छुटपुट दान की चिन्ह पूजा करते रहने वाले तो हर गली-कूचे में कुछ न कुछ आडंबर पहने, जहाँ-तहाँ घूमते देखे जा सकते हैं।

❑ ❑

दृष्टिकोण बदले तो परिवर्तन में देर न लगे

कब किस दान की महिमा अत्यधिक बढ़ी-चढ़ी मानी जाती है ? इस प्रश्न के उत्तर में एक ही बात कही जा सकती है, कि जब जिस विपत्ति का अत्यधिक प्रकोप हो, तब उसके निराकरण का उपाय ही सर्वश्रेष्ठ दान है। प्यास से संत्रस्तों को पानी, भूख से तड़पतों को अन्न, अग्निकांड का शमन करने के लिए जल, बाढ़ की चपेट से घिरों को नाव, दुर्घटनाग्रस्तों को चिकित्सा उपचार जैसे उन साधनों की आवश्यकता पूर्ति की जाती है, जिसके कारण संकटग्रस्तों को अत्यधिक त्रास सहन करना पड़ रहा हो।

वर्तमान समय में आस्था संकट के रूप में घोर दुर्भिक्ष, जन-जन के ऊपर प्रेत-पिशाच की तरह चढ़ा हुआ है। लोग बेतरह भूल-भुलैयों में भटक रहे हैं। दृष्टिकोण में ऐसी विकृति समा गई है कि उल्टा-सीधा और सीधा-उल्टा दीखता है। कौरवों को नवनिर्मित राजमहल में प्रवेश करते समय जल में थल और थल में जल दीख पड़ा था। इस कारण वे मतिभ्रम में पड़े, दुर्गति को प्राप्त हुए और उपहासास्पद बने। सोचा इस प्रकार जाना चाहिए कि एकता और समता की मान्यता अपनाई जाए। मिल-बाँट कर खाया जाए, हँसते-हँसाते रहा जाए। सहयोग और सहकार की रीति-नीति अपनाई

जाए। वह बरताव दूसरों के साथ न किया जाए जो हमें अपने लिए पसंद नहीं। हर कोई अपनी प्रामाणिकता अक्षुण्ण रखे। अनीति न कोई करे न सहे। न कोई अमीरी का अहंकार जताए और न किसी को अभावग्रस्त रहने के लिए बाधित रहना पड़े। चरित्र में शालीनता और व्यवहार में सज्जनता का गहरा पुट रहे। मानवी गरिमा के उपयुक्त मर्यादाओं के परिपालन में कोई कोताही न बरते और न वर्जनाओं के उल्लघंन की उदंडता बरतने की छूट किसी को मिले। उच्च विचारों को मान्यता देते हुए, सादा जीवन जीते हर किसी को देखा जा सके। अन्यान्य मानवी कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों के परिपालन के लिए समाज व्यवस्था बने और उसका पालन करने के लिए हर किसी को सहमत अथवा बाधित किया जा सके।

किंतु जो चिंतन, प्रचलन, व्यवहार एवं लक्ष्य अपनाया जा रहा है, वह लगभग उलटे स्तर का है। हर किसी को आपाधापी पड़ी है। जो जितना भी, जिस प्रकार भी बटोर सकता है, उसमें कमी नहीं रहने दे रहा है। साथ ही जो उपलब्ध है, उसका भोंड़ा उपयोग करने में ही अहंकार की पूर्ति मानी जा रही है। उदंडता ही समर्थता का पर्यायवाचक बनने का प्रयत्न कर रही है। आदतों में घुसी-पड़ी विकृतियाँ अशांति और उद्विग्नता को दिन-दिन बढ़ावा दे रही है। असंतोष, खीझ, थकान निराशा के साथ-साथ आक्रमण और प्रतिरोध का कुचक्र ऐसा चल रहा है, जिसका ओर-छोर कहीं दीख नहीं पड़ता।

विज्ञान भी बढ़ा और बुद्धिवाद भी। पर दोनों के ही दुरुपयोग से बीमारी, गरीबी, बेकारी निरंतर बढ़ रही है। प्रदूषण की विषाक्तता जीवन के लिए चुनौती बन रही है। नशेबाजी, प्रपंचों की बहुलता के प्रचलनों को देखते हुए, प्रतीत होता है कि लोग धीमी गति से सामूहिक आत्म हत्या की योजनाबद्ध तैयारी कर रहे हैं। इस सबका निष्कर्ष एक शब्द में "बुद्धि विपर्यय" कहा जा सकता है। आस्था संकट यही है।

अपने समय में सबसे बड़ा अभाव और कष्ट यह है कि लोगों को मनोवोचित्त स्तर पर सोचना और तदनुरूप क्रिया-कलापों का जीवन में ढाल सकने में सफल होना कठिन जान पडता है। पानी ढलान की ओर

से सहज बह निकलता है, पर उसे ऊँचा उठाने में असाधारण कठिनाई का सामना करना पड़ता है। सत्साहस के क्षेत्र में चरम सीमा की दुर्बलता छाई हुई है। भ्रष्ट चिंतन अपनाते ही दुष्ट आचरण बन पड़ने का सिलसिला तो तेजी से चल ही पड़ता है। यही सामाजिक विकृतियों की उद्गम स्थली है, जहाँ उभरने वाला प्रवाह अपने प्रभाव क्षेत्र में कीचड़ ही कीचड़ भरता है। पाचन तंत्र खराब हो जाने पर बढ़ती हुई विषाक्तता, असंख्यों आकार-प्रकार के रोग उत्पन्न करने लगती है। ठीक इसी प्रकार विकृत चिंतन का अंधड़ उमड़ पड़ने पर आँखों में धूल भर जाती है और यथार्थता को सही रीति से देख पड़ना कठिन पड़ता है। क्रियाएँ स्वतः ही नहीं बन पड़ती। उनके पीछे आकांक्षाओं, मान्यताओं एवं विचारधाराओं की गहरा पुट रहता है। शरीर मन का वाहन है। उसे वही करना पड़ता है, जिसके लिए मन रूपी संचालक उसे निर्देश देता और दबाव डालता है। कठपुतली को बाजीगर के इशारे पर ही तो नाचना पड़ता है।

सुधार उपचार करना हो तो एक ही उपाय अपनाना पड़ेगा कि कुविचारों के प्रभावों को मोड़ा और उसकी दिशा धारा को सदुद्देश्यों के साथ जोड़ा जाए। इतना बन पड़ने पर वह सरल हो जाएगा, जो इन दिनों सर्वत्र अपेक्षित है। यहाँ चेचक की फुंसियों पर मरहम न लगाने के लिए नहीं कहा जा रहा है पर प्रतिवेदन यही प्रस्तुत किया जा रहा है कि उस रक्त विकार का भी उन्मूलन किया जाए, जो चेचक से लेकर गलित कुष्ट तक अनेकानेक विकृतियों का मूल कारण बन जाता है। नाली के ऊपर चूना छिड़क देने से काम नहीं चलता। उसमें भरी हुई सड़ी कीचड़ की परतें उठाने और पानी की तेज धार से उसे बहाने की आवश्यकता पड़ती है। अन्यथा चूना छिड़कने से क्षणिक संतोष भर किया जा सकता है, किंतु विषाक्त कृमि-कीटकों का निरंतर चल रहा उत्पादन स्थायी रूप से रोका न जा सकेगा।

संसार के कोने-कोने में स्थानीय परिस्थितियों और प्रचलनों के अनुरूप असंख्यों प्रकार की अवांछनीयताएँ अनेक रूपों में उभरती देखी जाती हैं। सोचने वाले उन सबको स्वतंत्र समस्या समझकर सामयिक एवं स्थानीय उपाय ही अपनाते हैं। इसका परिणाम आहत

तो कुछ सुधार दीख पड़ता है, पर जैसे ही उस लेप का प्रभाव हलका होता है, व्यथा ज्यों को त्यों फिर उभर आती है। इस खिलवाड़ में समय नष्ट करते रहने की अपेक्षा, उपयुक्त यही है कि विचारक्रांति का तूफानी सरंजाम जुटाया जाए और उसे प्रचंड बनाया जाए। प्राकृतिक सफाई तो तूफानी अंधड़ और घटाटोप वर्षा का प्रबल प्रवाह ही व्यापक रूप से संपन्न कर पाता है। यों घर-आँगन में बुहारी लगाकर सफाई की चिन्ह पूजा तो किसी प्रकार होती ही रहती है ?

भटकाव में पड़ने की अपेक्षा हमें लक्ष्य निर्धारित करना चाहिए और उसे प्राप्त करने के लिए अपनी समूची तन्मयता एवं तत्परता को उसी में नियोजित करना चाहिए। इसके लिए तर्क और तथ्यों पर आधारित यथार्थता का प्रबल प्रतिपादन बहुत हद तक काम दे जाता है। इन शताब्दियों में प्रजातंत्र और साम्यवाद की विचारधारा दो मनीषियों ने इस प्रकार प्रस्तुत की है, कि उन्होंने संसार के दो तिहाई मस्तिष्कों को अपने प्रभाव की परिधि में जकड़ लिया। जो एक तिहाई शेष है, वे अपने निहित स्वार्थों की वकालत प्रकट करते देखे जाते हैं। विरोध उनका ऐसा उथला होता है कि जिसका खंडन किए जाने पर बगलें झाँकने और खीसे निपोरने के अतिरिक्त और कुछ नहीं बन पड़ता। शालीनता की पक्षधर विचारक्रांति की दृढ़ता और यथार्थता के संबंध में भी यही बात कही जा सकती है। उसके प्रयोग जहाँ कहीं, जितनी सशक्तता के साथ प्रयुक्त किए गए हैं, उन्होंने अपना चमत्कारी प्रतिफल प्रस्तुत किया है। यह बात अलग है कि संकीर्ण स्वार्थों का समूह उनके साथ पूर्वाग्रह की तरह जुड़ा हुआ हो और जैसा प्रभाव परिणाम हो सकता था वैसा न हुआ हो। विचारक्रांति का ही परिणाम है कि उसके एक झकझोर ने इन्हीं दिनों राजश ही, सामंतशाही, साहूकारी व्यवसाय, जातिगत, ऊँच-नीच, दास-दासी प्रथा जैसे चिरकाल से जड़ जमाए बैठे अनौचित्यों को जड़ मूल से उखाड़कर फेंक दिया है। अब उनके खंडहारों पर इतिहास के विद्यार्थियों की ही नजर पड़ती है। पुरातन काल जैसा वैभव और जलजला उनका कहीं भी दिखाई नहीं पड़ता।

कई विचारक्रांति में व्यक्तित्वों का परिमार्जन प्रमुख है। इन दिनों निजी जीवन में व्यक्तिवादी संकीर्ण स्वार्थपरता का बोलवाला है। इनके [illegible] [illegible] प्रतिष्ठापना यह की जाती है कि मनुष्य एक सामाजिक

प्राणी है। उसकी समाजनिष्ठा अक्षुण्ण रहनी चाहिए। भले ही इसके लिए निजी लोभ, मोह और अहंकार को नियंत्रित-अनुबंधित करना पड़े। नीर-क्षीर विवेक वाली दूरदर्शिता को प्रश्रय मिले, भले ही इसके लिए कितने ही पुराने प्रचलनों को ताक पर उठाकर रखना पड़ता हो। जन-जन को ऐसी रीति-नीति अपनाने के लिए बाधित किया जाए, जिससे मानवी गरिमा के साथ जुड़ी हुई सद्भाव संपन्न शालीनता के अनुरूप ही आचरण करते बन पड़े। सहकार, शिष्टाचार, सज्जनता के उदार समावेश का हर कार्य में भली प्रकार संपुट हो। बड़ी मछली छोटी को खाती है, यह एक उद्धत उदाहरण है। आमतौर से तो दुर्बलों, अबोधों पर स्नेह सहयोग हो बरसता है। यदि यह परंपरा न रही होती तो हर मानव अपनी संतान का भक्षण कर रही होती और सृष्टि का समापन अब से बहुत पहले ही हो गया होता।

इन दिनों मनुष्य की निजी आदतों से लेकर समाज, शासन, व्यवसाय आदि में अवांछनीयता के ऐसे तत्त्वों का असाधारण रूप से समावेश हो गया है, जिन्हें पनपाना नहीं चाहिए था। आवश्यकता इसी सफाई की है। इसके लिये प्रतिभाशाली हर व्यक्तित्व को अपनी-अपनी क्षमता के अनुरूप योगदान देना पड़ेगा। मनीषियों की लेखनी और वाणी को सशक्त अस्त्र-शस्त्रों की भूमिका निभानी चाहिए। वक्ता की वाणी इतनी मुखर होनी चाहिए, कि उसकी यथार्थता मिश्रित ओजस्विता हर सुनने वाले को ध्यान देने और अनौचित्य से विरत होने के लिए बाधित कर सके। युग गायक सरसता की ऐसी स्वर लहरी निर्धारित कर सकता है, जिससे उसके ऊपर लगा, कामुकता भड़काने का कलंक धुल सके। धनिकों के लिए प्रायश्चित का ठीक यही समय है। व्यक्तिगत संपदा को शासकों से लेकर ईर्षालुओं तक कोई भी सहन नहीं करेगा। अगले दिनों की उथल-पुथल में यह बिजली सबसे पहले संचित-संपदा पर ही गिरेगी, क्योंकि अनेकानेक समस्याओं, संकटों और विडंबनाओं का प्रमुख कारण लोभ-लिप्सा को ही माना जाता रहा है। अच्छा हो जिसके पास अनावश्यक संग्रह है वे उसे युग धर्म की पुकार को सुनने समझने के उपरांत उसी हेतु विसर्जित कर दें।

जन मानस को प्रभावित करने वाले और भी अनेक तंत्र हैं। इसमें प्रेस ने अपना मजबूत स्थान बना लिया है। अभिनय भी बल कौशल का प्रतीक प्रतिनिधि बनकर रह रहा है। जिनमें नेतृत्व कर

सकने की प्रतिभा हो, वे उसे अपनी विशिष्ट सिद्ध करने के लिए यत्र-तत्र लोलुपता में खर्च करें; वरन् लोकमानस के साथ गुँथकर ऐसा प्रबल प्रयत्न करें कि बुद्ध, गाँधी, शंकर, दयानंद विवेकानंद, विनोबा की तरह सही मार्गदर्शन की आवश्यकता पूरी कर सकें। इस संबंध में किसी को भी अपनी क्षमता कम करके नहीं आँकनी चाहिए। टिटहरी का समुद्र सुखाने का संकल्प अगस्त्य की सहायता से पूरा होकर रहा था। कार्लमार्क्स, लेनिन, रूसो जैसे विचारक किसी युनिवर्सिटी के प्राध्यापक नहीं थे। कबीर और रैदास जैसों ने यथार्थता के प्रतिपादन में इतना साहस दिखाया कि जमाने के सामने अकेले ही अड़ जाने की उनकी प्रतिज्ञा अंत तक निभी रही। हजारी किसान ने नितांत अनपढ़ होते हुए अपने संपर्क क्षेत्र में हजार आम्र उद्यान लगाने में सफलता पाई थी। धुन के धनी इतने शक्ति संपन्न होते हैं कि साधनों और सहयोगियों की परवाह न करते हुए भी वे अपनी नाव चलाते और उसमें बिठाकर अनेकों को पार करते हैं।

युग धर्म ने जिस एक आधार को प्रमुख घोषित किया है वह है—"विचारक्रांति", जन मानस का परिष्कार, प्रचलनों में विवेक सम्मत निर्धारणों का समावेश। यह सब क्रियापरक कम, भावना प्रधान अधिक हैं। इसके लिए विचारणा से लेकर भाव-संवेदनाओं की मानसिकता को झकझोरने से काम चल जाएगा। दृष्टिकोण में बदलाव आने पर प्रचलनों में उलट-पुलट होकर रहेगा। जिस दिशा में प्रतिभाएँ समूचे मनोयोग के साथ बढ़ेगी उस पर पीछे चलने वाले अनुयायियों की कमी रहने वाली है ही नहीं।

आँखों पर जिस रंग का चश्मा पहन लिया जाता है सभी वस्तुएँ उसी रंग की दिखाई पड़ती हैं। दर्पण में अपना ही चेहरा दीखता है। गुंबज में अपनी ही आवाज गूँजती है। छाया अपने साथ-साथ ही चलती है। मनुष्य का विकसित व्यक्तित्व जब आदर्शवादी मार्ग पर चलने का संकल्प करता है, तो उसकी शक्ति हजारों गुनी हो जाती है। सहयोगियों और साधनों की भी कमी नहीं रहती। आवश्यकता केवल एक है—अपनी मनस्वी सत्ता के जागरण की और उसकी उत्कृष्टता के साथ जोड़ते हुए आदर्शवादिता के मार्ग पर धकेल देने की।

❑ ❑

प्रभावोत्पादक समर्थता

आम शिकायत एक ही सुनी जाती है कि हम लोगों को सिद्धांतवादी परामर्श हैं, वे स्वीकारते नहीं; इस कान से सुनते, उस कान से निकाल देते हैं; प्रभाव नहीं पड़ता और जो कहा गया है, उस पर चलने के लिए कोई तैयार नहीं होता।

असफलता की यह शिकायत पूरी तरह गलत नहीं है। यदि गलत रही होती तो जितने धर्मोपदेशक आज हैं, पहले दिनों में भी उससे कम नहीं थे, उन्होंने जमाने को बदल दिया होता। कभी देश में प्रधान सात ऋषि थे। वह संख्या तो नगण्य ही थी, पर उनके निजी व्यक्ति व इतने प्रभावशाली थे कि कहते हैं कि सातों ने सात द्वीपों में—समूचे संसार में धर्म धारणा की ऐसी हवा चलाई, जिससे कोई भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहा। देश में साधु ब्राह्मण सीमित संख्या में थे पर वे स्थानीय समस्याओं के समाधान के लिए बिखरे हुए देश के कोने-कोने में पहुँचते थे और लोगों को अनगढ़पन से छुड़ाकर कर्मठता और सद्भावना से अनुप्राणित करते थे। जब प्राचीन काल में धर्म प्रचार के जादुई चमत्कार देखने को मिलते रहे हैं, तो आज उस प्रक्रिया के विपरीत शिकायत करनी पड़े, इसके पीछे कोई बड़ा रहस्यमय कारण होना चाहिए। अन्यथा जो बादल पहले पानी बरसाते थे अब क्यों धूलि बरसाएँ और क्यों हर किसी को शिकायत का मौका दें ?

यहाँ समझने योग्य बात एक ही है कि वरिष्ठ व्यक्तित्व ही सामान्यजनों को प्रभावित करते हैं। घटिया लोगों में इतनी क्षमता नहीं होती कि हर किसी को अपने कथन की प्रामाणिकता का विश्वास दिला सकें और उत्कृष्टता के पक्षधर परामर्शों को अपनाने के लिए किसी को सहमत कर सकें।

वक्ता ऊँचे मंच पर बैठा करते हैं और श्रवण कर्ता उनसे तनिक नीचे बैठे होने पर कही गई बात को आसानी से सुन लेते हैं। यदि वक्ता नीचे गड्ढे में बैठा हो तो ऊपर बैठे श्रवणकर्ताओं तक बात

पहुँचना कठिन होता है। प्रसंग जब आदर्शों को अपनाने का होता है, तो वक्ता को उस उच्चता की कसौटी पर हर दृष्टि से कसे जाने के उपरांत सही सिद्ध होना चाहिए, अन्यथा कथन प्रतिपादन हवा में उड़कर रह जाएगा।

नौसिखियों को कला-कौशल सिखाने वाला अपने विषय का निष्णात् होना चाहिए। स्कूली अध्यापक भी छात्रों की तुलना में अधिक पढ़े होते हैं। संगीत-सिखाने वाले की योग्यता भी असंदिग्ध होनी चाहिए। शिक्षक और शिक्षार्थी के बीच तो इतने से भी काम चल जाता है। किंतु जहाँ तक आदर्शवादी-सुधारवादी और जीवन में परिवर्तन लाने वाले धर्म-प्रसंगों का सवाल है, वहाँ यह बात अनिवार्य हो जाती है कि उपदेष्टा, जो कुछ दूसरों से कराना चाहे, उसे स्वयं भी दृढ़तापूर्वक आचरण में उतारे। सुधार के प्रसंग में लोग वक्तृता सुनने से कहीं अधिक दिलचस्पी इस बात में लेते हैं कि जो कहा जा रहा है, उसे उपदेशक ने अपने निजी जीवन में किस हद तक अपनाया ? देश, धर्म, समाज और संस्कृति का अभ्युदय इसी पर निर्भर है कि इनसे संबंधित व्यक्ति, संपर्क में आने वालों को अपने व्यक्तित्व की गरिमा से उस विशिष्टता से प्रभावित करे, जो आडंबर बनाने से नहीं वरन् भावना, श्रद्धा और जीवनचर्या के साथ जुड़ी हुई निष्ठा पर अवलंबित है।

बुरे लोग यदि दबंग होते हैं तो साधारण स्तर के अनेक लोगों को अपने दुर्व्यसनों में सहयोगी बनाने के लिए घसीट लेते हैं। नशेबाजों की मंडलियाँ बन जाती हैं। चोर लफंगे भी गिरोह बना लेते हैं। इसका कारण मात्र यही है कि सूत्र संचालकों की कथनी और करनी में एकता होती है, भले ही वह बुरे स्तर की ही क्यों न हो ?

बिजली के दो तार मिलने पर ही करेंट चालू होता है। कथनी और करनी दोनों के संयोग से ही उपदेश में शक्ति उभरती है। अन्यथा लोग यही मानते हैं कि वह कथन निभाने योग्य नहीं है। वक्ता जब इतने जोर-शोर से अन्यान्यों में बदलाव लेने की बात करता है और उसका महात्म्य फलितार्थ भी उच्च कोटि का बताता है, तो उसे अपने आचरण में क्यों नहीं लाता ? इस प्रश्न के उत्तर में दो ही बातें उभरकर आती हैं। एक तो यह कि कथन व्यावहारिक नहीं है;

सुधार संभव नहीं है, आम लोग जो रीतिनीति अपनाए हुए है वही ठीक है। यदि सुधारवादी कथन ठीक है और उसका मार्गदर्शन करने वाले उपदेष्टा उसे स्वयं करने से कतराता है, तो यह समझा जा सकता है कि कहने वाला ठग है। दूसरों से अपना सम्मान कराना चाहता है और स्वयं घटियापन अपनाकर उन लाभों को उठाना चाहता है, जिन्हें स्वार्थपरायण लोग अपने ढंग से अपनाते रहे हैं। यही वह संदेह है जिनके कारण आदर्शवाद के उपदेशकों पर से जन साधारण की निष्ठा उठती जाती है।

विचारक्रांति वकीलों जैसी दलाली देने से संभव नहीं हो सकती। उससे तो अधिक से अधिक यह हो सकता है कि भ्रांतियों का निवारण बन पड़े। किंतु प्रचलन मात्र इतने से ही नहीं चल पड़ते हैं। उनके पीछे व्यक्तिगत स्वार्थपरता, अहमन्यता, दूसरों के प्रति उपेक्षा जैसी दुष्ट मान्यताएँ भी छद्म रूप से काम कर रही होती है। यदि उन पर अंकुश लगाते न बन पड़े तो तथाकथित सुधारक भी मुखौटे बदलते रहने वाले बहुरूपीये मात्र बनकर रह जाते है। देखा जाता है कि बेटी का विवाह सामने होने पर सभी लोग दहेज विरोधी बनते हैं। पर जब बेटे के विवाह की बारी आती है तो प्रकट या गुप्त रूप से लाभ उठाने में चूकते नहीं है यही कारण है कि "खर्चीली शादियाँ हमें दरिद्र और बेईमान बनाती हैं" के उद्घोषकर्ता ही समय आने पर मुंखौटे बदल लेते हैं और यह अति महत्त्वपूर्ण आंदोलन मात्र प्रापेगेंडा का उपहासास्पद विषय बनकर रह जाता है।

धर्मोपदेश देने वाले सच्चे अर्थों में उसका पालन करें तो कोई कारण नहीं कि अनुकरणीयकर्त्ताओं की कमी रहे। नानक, कबीर जैसे संतों की प्रामाणिकता और प्रखरता भावनाशीलों को असाधारण रूप से आंदोलित करती और असंख्यों को ऐसे अनुयायी बनाती रही है, जो कष्ट-कठिनाइयों की कसौटियों पर भी लगातार खरे उतरते रहे हैं।

प्रस्तुत कठिनाइयों से निपटने का लगभग सही स्तर का निर्धारण यह है कि लोकमानस को भ्रांतियों से उबारा और परिष्कार कर विवेकशीलता अपनाने के लिए तर्क, तथ्य, अनुभव और प्रमाणों के आधार पर सहमत किया जाए। यही विचारक्रांति है। इसका दूसरा

सत्प्रवृत्तियों का संवर्द्धन भी कह सकते हैं। प्रवाह को रोकने और उल्टे को उलटने के लिए साहस भरा पुरुषार्थ चाहिए। प्रतिभा परिष्कार इसी का नाम है। यही दो चरण बढ़ाते हुए महाक्रांति का लक्ष्य पूरा करना संभव है। सतयुगी प्रचलन के लिए वातावरण बनना इसी आधार पर बन पड़ेगा।

निर्णायक निर्धारण यह है कि इसके लिए जीवट के धनी प्राणवान प्रतिभाओं का भावभरा समयदान चाहिए। समयदान को सर्वोत्कृष्ट दान इसलिए माना गया है कि उसमें ईश्वर प्रदत्त समय एवं शरीरगत पुरुषार्थ का, प्रत्यक्ष रूप में श्रम और अंतःकरण की भाव संवेदना का गहरा पुट रहने पर ही यह प्रक्रिया सशक्त रूप में बन पड़ती है। प्रभावी समयदान वही है जिसमें समय, श्रम और संकल्प का त्रिविध समन्वय हुआ है। ऐसा समयदान की युग परिवर्तन की महान प्रक्रिया संपन्न कर सकने में समर्थ हो सकता है।

❑ ❑

प्रामाणिकता और प्रखरता ही सर्वत्र अभीष्ट

आज की परिस्थितियों पर सामयिक विचार-मंथन का निष्कर्ष एक ही है, कि हम सब भ्रांतियों के युग में रह रहे हैं और मानवी गरिमा के अनुरूप मर्यादा परिपालन में भटक गए हैं। सुधार इन दोनों का ही बन पड़े, तो समझना चाहिए कि उपाय का अवलंबन मिल गया, जो युग समस्याओं का समाधान कर सकने में पूरी तरह समर्थ है। इस उपाय को क्रियान्वित करके कौन दिखाए, इस संदर्भ में आशा की सुई उन वरिष्ठ प्रतिभाओं पर जाकर रुकती है, जो समयदान के रूप में अपने परम पुरुषार्थ का प्रस्तुतीकरण कर सकें। यह समयदान आलसियों प्रमादियों जैसा नहीं, वरन् उसके साथ कठोर श्रम और भाव-संवेदनाओं का गहरा पुट घुला मिला रहना चाहिए।

यह किनसे बन पड़ेगा ? उसका उत्तर महाकाल के शब्दों में ही मिल जाता है "जो अपने को तपे सोना जैसा खरा सिद्ध कर

सके। चिंतन, चरित्र और व्यवहार की तीनों जाँच-पड़तालों में भली प्रकार उत्तीर्ण हो सके।" यह कार्य अति सरल भी है और अति कठिन भी। सरल उनके लिए जो जीवन को एक बहुमूल्य दैवी अनुकंपा मानते हैं और उनके श्रेष्ठतम उपयोग की बात सोचते हैं। कठिन उनके लिए जिन पर वासना, तृष्णा और अहंता की तिकड़ी पूरे जोर-शोर के साथ हावी है।

भव-बंधनों में बाँधने वाली तीन जंजीरें प्रख्यात हैं। उनका उल्लेख कहीं लोभ, मोह, अहंकार के रूप में किया गया है, कहीं इनकी गणना तृष्णा, वासना और अहंता के नाम से कराई गई है। दोनों ही प्रतिपादन एक ही तथ्य को अलग-अलग शब्दों में व्यक्त करते हैं। प्रथम बंधन लोभ-तृष्णा के प्रभाव से व्यक्ति में धन बटोरने की ललक चढ़ी रहती है। इसके साथ वह अनाचार तक करता है और उसके प्रभाव से खिंचते चले आने वाले दुर्व्यसनों का शिकार बनता है। इससे लौकिक और पारलौकिक दोनों ही स्तर के चित्र-विचित्र अनर्थ खड़े होते हैं। औसत नागरिक स्तर का निर्वाह किसी के लिए कठिन नहीं है। वह कुछ ही घंटों के परिश्रम से जुट जाता है और शेष समय का सदुपयोग पुण्य परमार्थ जैसे दिव्य प्रयोजनों में ही हो सकता है।

संग्रहीत संपत्ति को बेचकर बैंक में डाल देने से भी उसका ब्याज पाने की कितने ही लोग व्यवस्था बना लेते हैं, ताकि घर खर्च आसानी से चल सके। पूर्व काल में घर के अन्य कमाऊ लोग परिवार का एक सदस्य परमार्थ के लिए समर्पित करके अपनी गौरव भरी परंपरा चलाते रहते थे। सत्युग के ब्राह्मण परिवार में से एक सदस्य परिब्राजक की तरह भ्रमणशील सेवा साधना में निरत रहता था। आज भी चिंतन को थोड़ा झकझोरा जा सके तो वैसी ही व्यवस्था फिर नए सिरे से बन सकती है।

दूसरा भव-बंधन है जिसका तात्पर्य है स्त्री-बच्चों का आश्रित परिवार इतना बड़ा और भारी बना लेना, जिसका भार निरंतर जुटे रहने पर ही किसी प्रकार उठाया जाना संभव हो सके। ऐसे लोग मनोरंजन के रूप में कुछ परमार्थ कर सकते हैं। पति-पत्नी तभी एक

एक-दूसरे के सहयोगी बनें। संतान के दायित्व नहीं के बराबर बनाए रखें, अन्यथा उनका निर्वाह और अमीर बनने का मंसूबा, जीवन तत्त्व का सारा रस निचोड़ लेता है। वासना का प्रतिफल ही यह विषफल है। संतानरहित विवाहों में तो परमार्थ के लिए थोड़ी गुंजायश भी रहती है, पर यदि वह आकर्षण बढ़ता जाता है तो श्रम का नियोजन और मनोयोग उसी प्रयोजन में खप जाता है।

यदि परिवार को स्वावलंबी सुसंस्कारी भर बनाने तक का लक्ष्य सीमित रखा जाए, उस पर बड़प्पन थोपना अनिवार्य न समझा जाए, तो विवाह-बंधन नहीं बनता और न वह भार बनकर सिर पर लदता है। जो भी हो जिस प्रकार लोकसेवियों के लिए निर्वाह व्यय में कटौती करना आवश्यक है; वहाँ यह भी उचित है कि परिवार के उद्यान में रहकर दायित्वों के निर्वाह की शिक्षा तो प्राप्त करें, पर उसे हथकड़ी की तरह इतना कठोर न बना लें कि उसके अतिरिक्त और कुछ सोचना या करना बन ही न पड़े।

प्राचीन काल में लोकसेवियों को विशेषतया चिंतन और चरित्र के क्षेत्र में भावपरक उत्कृष्टता भरने वाले अध्यात्म प्रयास में निरत रहते देखा जाता था। वे ही देश की मान-मर्यादा को उच्च शिखर पर बनाए रखने का श्रेय संपादित करते रहते थे। इन दिनों आदर्शवादी आकांक्षाओं में बुरी तरह गिरावट आई है। अपनी जीवनचर्या से दूसरों को कारगर प्रकाश दे सकने वाले प्राणवान ढूँढ़े नहीं मिलते। बकवादी तो पहले से भी अधिक बढ़ गए हैं, जो कथनी और करनी में भारी अंतर रहने के कारण गंदगी बिखेरते और अश्रद्धा का वातावरण बनाते देखे जाते हैं।

तीसरा व्यवधान है—अहंकार। समान स्तर के सज्जन व्यक्तियों को अपना आपा नम्रता से भरा-पूरा रखना चाहिए और दूसरों के साथ व्यवहार वार्तालाप इस स्तर पर करना चाहिए, जिसमें आदर सम्मान की भावना छलकती हो। अच्छे संबंध बनाए रखने का, अपनत्व बढ़ाने का अवसर इसके बिना मिलता ही नहीं। अहंकारियों का रवैया ठीक इसका उलटा होता है। वे अपने बड़प्पन ढिंढोरा पीटते हैं। दूसरों की कमियाँ बताकर अपने को उन सबसे श्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि जिससे

भी संपर्क साधा गया है, वह अपने को तिरस्कृत किया जा रहा अनुभव करता है और कहने वाले को अहंकार के दुर्गुण से घिरा हुआ मान लेता है। ऐसे लोग किसी का सच्चा स्नेहसम्मान भी नहीं पा सकते। अपना उल्लू सीधा करने वाले चापलूसों के अतिरिक्त और कोई न तो उनका मित्र होता है और न आड़े समय में काम आता है। देखा गया है कि अच्छी संस्थाओं में भी महत्त्वाकांक्षी बड़प्पन पाने के लिए लालायित लोग ही अनेकों विग्रह खड़े करते हैं एवं अन्ततः उस संगठन को ही बर्बाद कर देते हैं।

युग साधना में सफलता हेतु लोभ, मोह और अहंकार को जितना अधिक घटाया जा सकेगा, उतना ही स्तर इस योग्य बनता जाएगा कि लोग सच्चे मन से आदर भाव रखे और दिए गए परामर्श में अपना हित साधन समझे तथा स्वीकार करे।

इन दिनों सेवा क्षेत्र में करने योग्य तो अनेकानेक क्रिया कलाप हैं। स्वास्थ्य, शिक्षा संपन्नता के लिए अभी बहुत कुछ किया जाना है। सुविधा-संवर्धन के साधन जुटाना भी आवश्यक है। पर सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि व्यक्ति उत्कृष्ट चिंतन का अभ्यासी बनने के साथ, अपनी समस्याओं का अपने बलबूते स्वयमेव हल खोज सके, स्वावलंबी बन सके। स्थायित्व इसी में है। अन्यथा दूसरों के साधन अनुदानों का आसरा तकते-तकते आंतरिक दृष्टि से भी दीन-हीन बन बैठेगा और देवताओं से लेकर श्रीमंतों के सामने गिड़गिड़ाकर कुछ प्राप्त कर लेने की तरकीबें ढूँढ़ता रहेगा। स्वाभिमान और स्वावलंबन की दृष्टि से यह अनुपयुक्त ही है।

गुण, कर्म, स्वभाव, उत्कृष्टता ही वास्तविक सशक्तता है, जिसके द्वारा व्यक्ति प्रामाणिक विश्वस्त एवं कर्त्तव्यपरायण समझा जाता है। वह जहाँ भी जाता है, वहीं सम्मान पाता है और समर्थन-सहयोग का वातावरण सहज ही बनता दीख पड़ता है।

इक्कीसवीं सदी के अवतरण में भगीरथ जैसे तपस्वी व्यक्तियों की आवश्यकता है। ऐसे तपस्वी जो मानवी सद्गुणों का अभ्यास करने के उपरांत देवोपम विशेषता के क्षेत्र में प्रवेश पा चुके हों। जो दूसरों के अवगुणों पर जीत पा लेता है, वह वीर कहलाता है, पर उससे भी अगली श्रेणी का 'महावीर' वह है जिसने आपको जीत

लिया। ऐसे महामानव ही हनुमान स्तर के रीति-नीति अपनाते और आदर्शों के समुच्चय भगवान के प्रति सर्वतोभावेन समर्पित रहकर, जन-जन की श्रद्धा के भाजन बनते हैं। दैवी अनुग्रह तो उन पर अजस्र रूप से बरसता ही है। यह धारणा ठीक है कि अपना पुरुषार्थ भी कम न था, पर उसे सफल बनाने के लिए अदृश्य लोक से जितने अनुदान बरसे, उनका महत्त्व भी कम करके नहीं आँका जा सकता।

खरे सोने की ही पूरी कीमत उठती है, भले ही उसे स्वर्ण विक्रेता की दुकान पर क्यों न ले जाया जाए ? खोटे सिक्के हर जगह दुत्कारे जाते हैं, उनकी असलियत तो अंध भिखारी भी अनुमान लगाने भर से जान लेता है। बड़े कामों के लिए बड़ी हस्तियाँ ही अभीष्ट होती हैं। इक्कीसवीं सदी के साथ एक से एक बढ़कर वजनदार और महत्त्वपूर्ण कार्य जुड़े हुए हैं। उन्हें संपन्न करने के लिए मनोबल के धनी और चरित्र बल से मूर्धन्य स्तर के व्यक्ति ही चाहिए। तलाश उन्हीं की हो रही है। प्रतिभा परिष्कार का अभियान इसी दृष्टि से चलाया जा रहा है। उस परिष्कार से तपकर निकले हुए व्यक्ति न केवल अपने में अग्रगामी वरिष्ठजनों में गिने जाने योग्य बनेंगे वरन् दूसरों को ऊँचा उठाने-आगे बढ़ाने में भी अपनी विशिष्टता का परिचय दे सकेंगे।

❒ ❒

समय का एक बड़ा अंश, नवसृजन में लगे

अति महत्त्वपूर्ण सामर्थ्यो की इस दुनिया में कमी नहीं, पर विधि की कुछ ऐसी विडंबना है कि, वे प्रायः प्रसुप्त स्थिति में उनींदी पड़ी रहती हैं। प्राणि समुदाय का निर्वाह क्रम किसी प्रकार चलता रहे, क्षमताओं का उतना ही पक्ष क्रियाशील रहता है। यदि विशेष उद्देश्य को क्रियान्वित करना हो, तो उसके लिए विशिष्टजनों को विशेष ... हैं।

समुद्र में विपुल संपदा अनादि काल से छिपी पड़ी थी। उसका किसी को पता तक न था; पर जब प्रजापति के परामर्श से देव-दानवों ने मिल-जुलकर प्रयत्न-पुरुषार्थ किया, तो वे चौदह रत्न निकले जिनके कारण धरती से लेकर स्वर्गलोक तक में चमत्कारी संपदाओं का बाहुल्य उभर पड़ा। शास्त्र कहते हैं कि "मनुष्य से बढ़कर इस संसार में और कुछ नहीं है।" दार्शनिकों ने उसकी विचित्र स्थिति को देखते हुए कहा है कि—"वह भटका हुआ देवता है।" यदि उसे सही राह पर चलाने के लिए कोई कुशल महावत मिल जाए, तो वह अपनी असाधारण ऊँचाई और समर्थता से हर किसी को चमत्कृत कर सकता है।

अवांछनीयता की जकड़न और प्रगति की तड़पन अनुभव तो सभी करते हैं, पर गाड़ी यहीं अड़ जाती हैं कि दैवी गरिमा की प्रतीक-प्रतिनिधि मानवी क्षमता को जगाने के लिए तैयारियाँ कहीं होती नहीं दिखतीं। यदि नारद जैसे कुछ ही लोग जागृति गान गाने में निरत रहे होते, तो मानवी पराक्रम और दैवी अनुग्रह का सुयोग सहज ही बन जाता और परिवर्तन भरा ऐसा वातावरण उद्भूत होता, जिसे युग परिवर्तन जैसा काया कल्प कहा जाता।

दूध गरम किये जाने पर मलाई तैरकर ऊपर आ जाती है। महाकाल की हुँकार सुन सकने में जिनके कान समर्थ हैं, वे इन दिनों कुछ करने के बिना रह ही नहीं सकते। बिगुल बजते ही सैनिक तंबू को छोड़कर मैदान में पंक्तिबद्ध आ खड़े होते हैं। आदेश जब तक मिले, उसके पहले ही वे वर्दी पहनने और पेटी कसने का काम पूरा कर लेते हैं।

आज का युग धर्म है—जन-जागरण के लिए प्रचंड पुरुषार्थ में जूट पड़ना। यही होने भी जा रहा है। प्रतिभाएँ अग्रिम मोर्चे पर एकत्रित हो रही है और व्यापक जन-जागरण की क्रमबद्ध सुव्यवस्थित योजना बना रही है। चिंतन आगे भी इसी विकृत स्थिति में नहीं रहेगा, उसे अपनी उलटी दिशा छोड़कर उस दिशाधारा को अपनाना पड़ेगा जो सही एवं श्रेयस्कर है।

विचार परिवर्तन यदि 'ब्रेन वाशिंग' स्तर का करना हो और

तक सुविस्तृत करनी हो, तो उसके लिए बड़े कदम उठाने होंगे और उस कार्य में रीछ-वानरों की तरह, हर छोटे-बड़े का अपने-अपने ढंग का योगदान होगा। विचार परिष्कार के लिए लेखनी और वाणी के दृश्य और श्रव्य स्तर के सभी माध्यमों का उपयोग होगा। इस संदर्भ में युग-साहित्य से जन-जन को अवगत कराने की आवश्यकता पड़ेगी। कार्ल मार्क्स, रूसो हेरियट स्टो जैसों की क्रांतिकारी लेखनी का चमत्कार और परिणाम अनेकों ने पिछले दिनों प्रत्यक्ष देखा ही है।

युग साहित्य को झोला पुस्तकालयों और ज्ञान रथों के माध्यम से घर बैठे बिना शुल्क हर शिक्षित तक पहुँचाने का प्रयत्न किया जा रहा है। साथ ही यह अनुबंध भी जोड़कर रखा गया है कि बिना पढ़ों को उसे सुनाते रहा जाए। यह कार्य प्रधान रूप में अभी हिंदी भाषी क्षेत्रों में संपन्न हुआ है। अगले ही दिनों उसे देश की—विश्व की समस्त भाषाओं में समुद्री ज्वार-भाटे की तरह फैलते और कुहराम मचाते देखा जाएगा।

श्रव्य प्रयोजनों के लिए बिना खर्च वाले दीप यज्ञों की इतनी विशाल योजना चल पड़ी है, कि गाँव-गाँव इस माध्यम से युग चेतना का आलोक वितरण का सिलसिला द्रुतगति से चलता रहेगा। विचारशील वर्ग की अतिरिक्त गोष्ठियों का क्रम भी चल पड़ा है। जिसके आधार पर समझदारी, ईमानदारी, जिम्मेदारी और बहादुरी को जीवन में उतारकर दिखाने के लिए हर जागृत आत्मा के प्राण हुलसने लगे। टेप रिकार्डर के माध्यम से उद्‌बोधनों और संगीतों को घर-घर पहुँचने की योजना बन रही है। अभिनय भरे संगीत के आयोजन की सरल माध्यम नए रूप में अपनाया गया है। बन पड़ा तो इसके लिए वीडियो आदि का प्रभावशाली उपक्रम भी अपनाया जाएगा।

सूर्य पूर्व से उदय होता है। इतिहास साक्षी है कि भारत ने भी समय-समय पर विश्व का प्रगतिशील मार्गदर्शन किया है। इस बार भी बारी उसी की है। न केवल भारतवासी नवयुग की विचारधारा से अनुप्राणित होंगे, वरन् भाषायी समस्या के अनुरूप यदि प्रबंध बन पड़ा तो संसार भर की प्रतिभाओं को आगे आना होगा एवं सर्वतोमुखी परिवर्तन के लिए अपने-अपने ढंग से अपना-अपना योगदान प्रस्तुत करते देखा जा सकेगा।

प्रचार-प्रक्रिया के साथ लोक सेवा का गहरा पुट लगा होना आवश्यक है। ईसाई मिशन इसी रीति-नीति को अपनाकर प्रायः एक सहस्राब्दी में कम से कम आधी दुनिया को अपना मतावलंबी बना चुके हैं। युग निर्माण की जन-जागरण योजना के दो विधेयात्मक और दो निषेधात्मक कार्यक्रम प्राथमिकता के स्तर पर हाथ में लिए गए हैं। जिनमें से एक हैं—हर शिक्षित द्वारा न्यूनतम दो अशिक्षितों को शिक्षित बनाया जाए। इससे कम में देश की निरक्षरता का समाधान हो नहीं सकेगा। इसी उपक्रम के अंतर्गत पुस्तकालय योजना भी जुड़ी हुई है, ताकि हर प्रकार की वर्तमान समस्याओं का स्वरूप और समाधान जानने का अवसर मिल सके। विद्यालय और पुस्तकालय मिलकर ही एक समग्र शिक्षण-प्रक्रिया विनिर्मित होती है।

दूसरा है नारी जागरण। यह आधी जनता को अवगति के गर्त में से निकालकर समर्थता के सिंहासन पर बिठाने जैसे क्रांतिकारी कदम है। इक्कीसवीं सदी नारी प्रधान होगी। उसकी भूमिका हर क्षेत्र में नर से कहीं अधिक बढ-चढ़कर होगी। अतएव प्रयत्न यह होना चाहिए कि उसे शिक्षा, स्वास्थ्य, स्वावलंबन और तेजस्विता की दृष्टि से उपयुक्त स्तर तक पहुँचाया जाए। इसके लिए उसे दो सुविधाएँ देनी होंगी—एक गृहकार्यों में चौबीसों घंटे व्यस्त रहने के बंधनों से थोड़ा अवकाश देना, जिससे वह प्रगति के हेतु कुछ कर सकने की सुविधा प्राप्त कर सके। दूसरा यह कि उस पर प्रजनन का भार कम से कम दिया जाए, इससे जहाँ जनसंख्या की वृद्धि पर अंकुश लगेगा, वहाँ वे महिलाएँ अधिक योग्यता संपादन का अवसर भी प्राप्त कर सकेंगी।

यही दोनों कार्य विधेयात्मक योजनाओं में से अपनी-अपनी स्थिति के अनुरूप हाथ में लेने चाहिए और इन उपायों के लिए भी युग चेतना विस्तार की तरह ही रुचिपूर्वक समयदान देना चाहिए।

जिस प्रकार सृजनात्मक पुण्य प्रयोजन अनेकों हैं, उसी प्रकार दुष्प्रवृत्ति उन्मूलन के क्षेत्र में असंख्यों कार्य करने को पड़े हैं। इनमें से परिजन दो को प्रमुखता दें—एक नशा-निवारण दूसरा विवाहों में होने वाला अपव्यय। समाज को दिन-दिन दुर्बल-दरिद्र बनाने वाले यही दो प्रमुख कारण हैं। नशा न पीने, न पीने देने के लिए प्रतिज्ञा

की जाएँ। उसकी हानियों से जन-जन को अवगत कराया जाए और छुड़ाने के लिए जो भी उपाय अपनाया जा सकता है, उसे कार्यान्वित किया जाए। ठीक इसी प्रकार यह तथ्य भी हर किसी को समझाया जाए कि खर्चीली शादियाँ हमें दरिद्र और बेईमान बनाती हैं। दहेज, जेवर धूमधाम और अनावश्यक बारात का प्रचलन रुके तो ही समझना चाहिए कि मानवी आचार-संहिता का महत्त्वपूर्ण अंग-विवाह संहिता का आधार बन पड़ा।

गाँधी जी ने खादी आंदोलन और नमक सत्याग्रह के दो उपक्रम हाथ से लेकर अपना महान सत्याग्रह आंदोलन आरंभ किया, जो अंततः अनेक धाराओं में विकसित हुआ और राष्ट्र को मानव जीवन प्रदान कराने में समर्थ हुआ। युग निर्माण योजना ने प्रचार-प्रक्रिया के अतिरिक्त निरक्षरता उन्मूलन और शादियों को बिना खर्च की बनाने का कार्य हाथ में लिया है। ऐसी शादियाँ शांतिकुंज में आकर लोग हजारों की संख्या में करा चुके हैं।

ऊपर कुछ थोड़े-से कार्यक्रमों का उल्लेख है। इसे शुभारंभ की बेला में जुटाया गया थोड़ा सरंजाम ही समझा जा सकता है। अगले दिनों तो सर्वतोमुखी सृजन परिवर्तन के लिए अनेकों काम हाथ में लेने होंगे और ध्यान रखना होगा कि गिराने में जितनी शक्ति लगी है, उसकी तुलना में बनाने में कहीं अधिक कौशल, समय, श्रम और साधन चाहिए।

यह साधन कहीं आसमान से नहीं टूटेंगे। युग चेतना से अनुप्राणित प्रतिभाओं को अपने आप से इस समयदान का शुभारंभ करना होगा, जिसके सहारे जहाँ भी आवश्यकता हो वहाँ उसका उपयोग हो सके। महाकाल ने समयदान की एक मात्र याचना की है और हर प्रतिभावान से आशा की है कि वह इस आड़े समय में इस हेतु कृपणता न बरतेगा, वरन् ऐसी उदारता का परिचय देगा जिसे अनुकरणीय और अभिनंदनीय कहा जा सके। विश्वास किया जाना चाहिए कि इस मिशन का हर घटक इस संदर्भ में साहसिकता अपनाएगा और अगले कदम क्या उठे, इसके लिए शांतिकुंज के साथ विचार-विनिमय या पत्राचार आरंभ करेगा।

प्राणवान प्रतिभाएँ यह करेंगी

इक्कीसवीं सदी में परिष्कृत प्रतिभाओं की बढ़ी-चढ़ी भूमिका होगी। उसी को दूसरे शब्दों में ईश्वरेच्छा—दैवी प्रेरणा या समर्थ चेतना द्वारा संपन्न की या कराई गई तपश्चर्या कह सकते हैं। इस आधार पर महाकाल ने इसे दिनों परिष्कृत प्रतिभाओं का उत्पादन अभिवर्धन करने का निश्चय किया है, साथ ही उनको समर्थ, सशक्त और आदर्शों के लिए बढ़-चढ़ कर साहस प्रदर्शित कर सकने की क्षमता संपन्न बनाने का भी निर्णय लिया है।

अगले दिनों वर्तमान चिंतन को नयी दिशाधारा देनी होगी, ताकि उसे विवेक की कसौटी पर कसने के बाद जो उचित हो उसी को अंगीकार करने का साहस उभरे, साथ ही ऐसा पराक्रम भी जगे जो अनौचित्य से जूझने को न सही, कम से कम अस्वीकार करने के लिए तो कटिबद्ध हो सके। इस प्रयोजन के लिए, अनेक प्रचलनों और मान्यताओं का परिशोधन करने के लिए प्रचार माध्यमों में युग चेतना का समावेश करने के निमित्त बड़े प्रयास करने होंगे। इसका प्रथम प्रयास तो युग साहित्य का सृजन ही है, पर वह बीज बोने-जैसा श्री गणेश भर है। वस्तुतः उसका विकसित रूप तभी बन सकेगा, जब हर भाषा में उसके प्रकाशन की ही नहीं विक्रय की भी व्यापक व्यवस्था बन पड़े। सृजन के साथ ही उसके परिवर्धन और प्रचलन की आवश्यकता पड़ती है, अन्यथा उगे हुए अंकुर सूखकर रह जाते हैं।

विचारक्रांति के लिए साहित्य-सृजन एक कार्य है, पर उतने भर से प्रयोजन की पूर्णता कहाँ बनती है ? तीन चौथाई अशिक्षित जनता के लिए विचार-परिवर्तन का आधार तभी बन पड़ेगा जब हृदय और श्रव्य के सशक्त आधार विनिर्मित और प्रचलित किए जाएँ। इसके लिए यांत्रिक माध्यम भी अपनाने पड़ेंगे। लेखनी अब पर्याप्त नहीं रही, उसके लिए प्रेस माध्यम का अपनाया जाना अनिवार्य हो गया है। यह विज्ञान युग जो है—पत्रिका, पुस्तकें प्रचार, पत्र, स्टीकर, पोस्टर जैसे अनेक आधार अब अपेक्षित हैं। प्रकाश चित्रों (स्लाइड प्रोजेक्टरों) का

प्रदर्शन भी इसी उद्देश्य की मूर्ति का एक भाग बन गया है। चित्र विभाग में ही फिल्में भी आती हैं। कभी कथा प्रवचन संकीर्तन आदि को सत्संग प्रक्रिया ही वाणी के माध्यम से सद्विचार संवर्धन का काम पूरा कर लिया करती थी। पर अब तो अलख जगाने, प्रभात फेरियाँ निकालने जैसे वे उपचार काम में लेने होंगे, जिनके लिए लोगों के एकत्रित होने की प्रतीक्षा न करनी पड़े। जन-जन से संपर्क साधना और घर-घर अलग जगाने का प्रयोजन जिस प्रकार भी पूरा हो सके, उन उपकरणों को काम में लिया जाए। संगीत और अभिनय का अपना महत्त्व है। उन्हें किस प्रकार व्यापक प्रचार का सर्वसुलभ साधन बनाया जा सकता है, इसके लिए भी गंभीरतापूर्वक विचार करना और मार्ग ढूँढ़ना होगा। इस प्रयास को इतना व्यापक बनाना होगा कि सभी भाषा-भाषी इस प्रकाश-प्रसारण का लाभ बिना किसी अवरोध के प्राप्त कर सकें।

प्रचार की परिधि में आवश्यक है और प्रथम चरण की पूर्ति करने में समर्थ भी है, पर उतने को ही पर्याप्त नहीं मान लेना चाहिए। दूसरा चरण है—प्रशिक्षण। वर्तमान मान्यताओं-प्रचलनों में से अधिकांश को बदलना होगा। इसे यों भी कहा जा सकता है कि जन रुचि जिस रूप में इन दिनों विद्यमान है, उसे भट्टी में गलाना और नये ढाँचे में ढाला जाना है। यह बड़ा काम इसलिए है कि प्रस्तुत मान्यताएँ, आदतें और परंपराएँ इतनी आसानी से इतना बड़ा परिवर्तन अंगीकार करने के लिए सहज सहमत नहीं हो सकतीं। इस समूची प्रक्रिया को "ब्रेनवाशिंग" भर न कहकर कायाकल्प स्तर पर निरूपित करना होगा। यह कार्य ऐसी शिक्षण परिपाटी ही कर सकती है, जिससे बौद्धिकता को समझाने और नए प्रयोगों के अनुरूप मानस बनाने की ही नहीं, व्यवहार में उलट-पुलट कर सकने तक की समर्थता विद्यमान हो।

व्यवस्था और मान्यता के क्षेत्र में एकता-समता, यथार्थवादी एकरूपता लाने के लिए जिस शिक्षा की आवश्यकता है, वह शिक्षितों और अशिक्षितों को बिना किसी भेदभाव के उपलब्ध कराने की आवश्यकता पड़ेगी। इसे संप्रदाओं, भाषाओं, आदतों और रीति-रिवाजों के वर्तमान ढाँचे से ऊपर उठकर उस मार्ग को अपनाना होगा, जो

नए युग के नए मनुष्य की जिज्ञासा और आवश्यकता की भली भाँति पूर्ति कर सके।

शिक्षा का ढर्रा भी बदलना होगा। नई शिक्षा प्रणाली के लिए अवकाश के घंटे भी सीमित करने होंगे और उस उपक्रम को इतने लंबे समय तक चलाना होगा; जब तक कि मूढ़ मान्यताओं से पूरी तरह पीछा न छूट जाए और मानवी चलन अपनी गरिमा के अनुरूप व्यवहार करने का आदी न हो जाए। जीवन अनेकों क्षेत्रों में बँटा हुआ है। शरीर, मन व्यवहार, प्रचलन, उपार्जन उपयोग आदि अनेक उसके पक्ष हैं। इन सभी में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन की आवश्यकता है। भावी शिक्षा पद्धति इसी आधार पर जन सहयोग से विनिर्मित करनी होगी। सरकारी शिक्षा पद्धति अपने ढर्रे के अनुरूप रहे तो इससे कुछ बात बिगड़ती नहीं है।

युग सृजन के लिए प्रत्येक भावनाशील से समयदान और अंशदान की अपेक्षा की गई है। आमतौर से हर आदमी के चार घंटे सुरक्षित रहते हैं। इसमें से कोई भी युगधर्म के प्रति निष्ठावान् दो घंटे तो लगा ही सकता है। विशिष्ट व्यक्तियों से आशा की गई है कि निर्वाह के लिए उपलब्ध साधनों के सहारे अथवा जनता से ब्राह्मणोचित आजीविका जुटाकर, इसी एक कार्य के लिए अपने को समर्पित करें। परिवार विस्तार और उसके लिए प्रचुर संपदा सँजोने की ललक घटाई या मिटाई जा सके, तो लोकसेवी की समूची क्षमता उस प्रयोजन के लिए समर्पित हो सकती है, जिसकी महाकाल ने जीवंतों, प्राणवानों और युग सृजेताओं से आशा अपेक्षा की है। वानप्रस्थ परंपरा पुनर्जीवित हो सके तो सतयुग की वापसी के लिए समर्थ अनुभवी प्रतिभाएँ कार्य क्षेत्र में उतरती और अति महत्त्वपूर्ण मोर्चा सम्हालती देखी जा सकती हैं।

उपरोक्त प्रयास समय साध्य नहीं, साधन साध्य भी हैं। इसके लिए आरंभिक दिनों में दस पैसा नित्य निकालने में ज्ञानघट योजना से भी श्री गणेश कराया गया था। अब कार्य विस्तार के साथ-साथ अंशदान बढ़ाने की आवश्यकता भी पड़ेगी। इसके लिए अग्रगामियों से आशा की गई है कि वे महीने में उन्तीस दिन की कमाई से गुजारा करें और एक-एक दिन की आजीविका नियमित रूप से निकालते रहें

जिससे नवनिर्माण की गगनचुंबी योजनाओं में उचित सीमा तक योगदान मिल सके एवं उनका विस्तार हो सके, जिन्होंने अधिक संचय कर रखा है, वे उसे प्रायश्चित्य स्वरूप विसर्जित कर दें तो ही ठीक है। प्राचीन काल में वरिष्ठजन अपनी संचित संपदा को ऐसे ही पुण्य प्रयोजनों के लिए सर्वमेध यज्ञ के रूप में, युग समस्याओं के समाधान में नियोजित कर देते थे। भामाशाह, अशोक, हर्षवर्धन, वाजिश्रवा आदि के असंख्यों उदाहरण ऐसे हैं। इसी पुण्य परंपरा में स्वेच्छापूर्वक समर्पित यह अनुदान; दाता के निज के लिए और समूची विश्व-मानवता के लिए श्रेयस्कर ही होगा। प्रस्तुत समयदान या अंशदान उस लोक शिक्षण में ही नियोजित होना चाहिए, जिस पर नवयुग का अवतरण अवलंबित है। यह दो ब्रह्मकर्म है और इन्हीं की अनुकंपा से कभी सत्‌युग की कालावधि में सर्वत्र आनंद मंगल बिखर रहा था। मनुष्य में देवत्व का उदय और धरती पर स्वर्ग का अवतरण हेतु इन्हीं दो चरणों को उठाते हुए परम लक्ष्य तक पहुँचाया जा सकता है।

अभी तक गंतव्य का दिशा निर्धारण मात्र ही हो सका है। करने को तो इतना पड़ा है हर स्थिति का व्यक्ति अपने अनुरूप नवसृजन के लिए सरलतापूर्वक काम पा सके। इसके लिए आवश्यक मार्गदर्शन वह दिव्य सत्ता देती रह सकती है, जिसने कि इतनी बड़ी महाक्रांति की योजना बनाई और उसके लिए आवश्यक साधन जुटाने की पुरानी प्रतिज्ञा नए सिरे से दुहराई है।

इस संदर्भ में शांति कुंज में ऐसे साधना-प्रशिक्षण सत्र चलाए जा रहे हैं, जिनमें युग शक्ति के भागीदारी बनाते हुए सुनिश्चित दिशा में कुछ कर सकने का क्रम अपनाया जा सके उसके लिए उपयुक्त प्रेरणा एवं शक्ति संग्रहीत की जा सके। यह सत्र ६ दिन के जीवन साधना सत्रों से रूप में लगातार वर्ष भर होते रहते हैं। प्रतिमाह ता. १ से ६, ११ से १६, २१ से २६; इनकी तिथियाँ निर्धारित हैं। इन सत्रों में आत्मबल संवर्धन के लिए सर्व सुलभ किंतु विशेष प्रभावशाली आध्यात्मिक साधनाएँ कराई जाती हैं। इनमें सामान्य मार्गदर्शन के साथ-साथ व्यक्ति की भावना, क्षमता, योग्यता, परिस्थितियों आदि के [illegible]-परामर्श देने की भी व्यवस्था रहती है। हर स्थिति, हर

क्षमता तथा हर स्तर का व्यक्ति अपने लिए उपयुक्त धारा चुन सकता है।

जिनके पास समय अधिक है, लोक सेवा के लिए कुछ अधिक करना एवं उसके लिए योग्यता बढ़ाना चाहते हैं, उनके लिए एक-एक माह के सत्र प्रति माह ता. १ से २६ तक चलते रहते हैं। किसी भी सत्र में प्रवेश के लिए अपना पूरा नाम, पता, परिचय तथा अनुकूल समय की जानकारी के साथ आवेदन भेजने पर स्वीकृति दी जाती है।

❑ ❑

अग्रदूत बनें, अवसर न चूकें

युग परिवर्तन में प्रतिभावान मनुष्यों का पराक्रम तो प्रमुख होगा ही, साथ ही दैवी सत्ता का सहयोग भी कम न रहेगा। प्रतिकूलताओं को अनुकूलता में बदलने के लिए सृष्टा की अदृश्य भूमिका भी अपना कार्य असाधारण रूप से संपन्न करेगी।

युग परिवर्तन के इस पराक्रम में दुष्प्रवृत्तियों का उन्मूलन और सत्प्रवृत्ति संवर्धन—ये दो ही प्रधान कार्य हैं, पर उनकी शाखा प्रशाखाएँ, क्षेत्रीय परिस्थिति के अनुरूप इतनी अधिक बन जाती हैं, कि उन्हें अगणित संख्या में देखा जा सकता है। चिंतन, चरित्र और व्यवहार की उलट-पुलट एक बड़ा काम है, जिसका समस्त संसार में विस्तार करने के लिए अगणित सृजन शिल्पी चाहिए।

युग संधि के इन बारह वर्षों में अपना परिवार कितना कुछ कर सकेगा, इसकी एक मोटी रूपरेखा बनाई गई है और उसे कार्यान्वित करने की तत्परता चल पड़ी है।

एक लाख सृजन शिल्पी बनाए जा रहे हैं। हर परिवार पीछे एक सिख, एक सैनिक, एक साधु निकाले जाने की परंपरा अपने समाज के कई वर्गों में चलती रही है। इस उत्साह को पुनर्जीवित किया जा रहा है और ढेरों व्यक्ति शांति कुंज में प्रशिक्षित किए जा रहे हैं। उनका परिवार कोई कुटीर उद्योग अपनाकर निर्वाह चला

लिया करे और परिवार की ओर से समाज को अर्पित किया व्यक्ति निश्चिततापूर्वक सेवा कार्य में लगा रहे, तो उसके लिए वेतन व्यवस्था की चिंता न करनी पड़ेगी। मात्र दस-बीस पैसा और एक-दो घंटा समय नित्य अंशदान के रूप में निकालने की परंपरा भी आवश्यक कार्यों की पूर्ति कर दिया करेगी।

प्रतिभाओं को परिष्कृत करने, सूक्ष्म वातावरण को अनुकूल बनाने और सृजनात्मक प्रवृत्तियों का प्रचंड गति देने के लिए, "युग संधि पर्व पर एक सुनियोजित "धर्म यज्ञ" शांति कुंज हरिद्वार में आरंभ किया गया है। यह निर्धारित अवधि तक नियमित रूप से चलेगा एवं उसकी पूर्णाहुति इक्कीसवीं सदी के आरंभ में एक करोड़ साधकों द्वारा संपन्न होगी। तब तक इतने भागीदारी विनिर्मित हो चुके होंगे। वे जब एकत्रित होंगे और यज्ञ वेदी पर भावी क्रियाकलापों का संकल्प लेकर लौटेंगे, तो विश्वास किया जा सकता है कि अपने परिवार का वह पुरुषार्थ भी स्वर्ग से धरती पर गंगा को उतार लाने वाले भागीरथी प्रयास की समानता करेगा। शेष काम अन्य लोगों का है। युग निर्माण परिवार से बाहर भी तो असंख्य भावनाशील प्रतिभाएँ हैं, वे भी चुप क्यों बैठेगी ? उनका प्रयास युग निर्माण परिवार से कम नहीं अधिक ही होगा और लक्ष्य तक पहुँचने की प्रक्रिया पूरी होकर ही रहेगी।

सन् १९५८ में गायत्री तपोभूमि मथुरा में सहस्र कुंडी गायत्री महायज्ञ संपन्न हुआ था, उसमें उपस्थित लाखों साधकों को उनके हिस्से का काम बाँट दिया गया था। उसी धक्के का परिणाम है कि इतनी दूरी तक गाड़ी लुढ़कती चली गई है और इस बीच इतना कार्य बन पड़ा है, जिसका लेखा-जोखा लेने वाले आश्चर्यचकित होकर रह जाते हैं, प्रयासों को अनुपम बताते हैं।

अब हमारे जीवन का अंतिम पुरुषार्थ युग संधि महापुरश्चरण की पूर्णाहुति के रूप में चलेगा। एक करोड़ साधक-भागीदार अपने जिम्मे अगले दिनों करने के लिए जितना दायित्व स्वीकार करके, उसे देखते हुए हिसाब लगाया जा सकता है कि वे सन् ५८ के समय [illegible] संख्या की तुलना में वे पच्चीस गुने अधिक होंगे। अर्थात

नए २५ युग निर्माण स्तर के प्रयास नए सिरे से चल पड़ेंगे और अधिकांश जन समुदाय को नव चेतना से आंदोलित करेंगे।

यह कहा जाता है कि अगले बारह वर्षों तक वर्तमान प्रक्रिया का संचालन करने के लिए हम जीवित न रहेंगे, तब इतनी बड़ी योजना का कार्यान्वयन कैसे होगा ? इस संदर्भ में हर प्रश्नकर्त्ता को ध्यान में रखना चाहिए, कि हमारे द्वारा बन पड़े परमार्थों में ९९ प्रतिशत दैवी चेतना सहयोग करती रही है। इस शरीर से तो एक प्रतिशत जितना ही कुछ बन पड़ा है। अगले दिनों प्रेरक सत्ता अपना काम करेगी और जो हम जीवित रहकर कर सकते थे, उससे सैकड़ों गुनी सुव्यवस्था अपने बलबूते चला लेगी। चिंता या असफलता का अवसर किसी को देखने के लिए नहीं मिलेगा।

अगले दिन अति महत्त्वपूर्ण हैं, उनमें हमारे कंधों पर आया भार भी अधिक बढ़ा है। उसे इस वयोवृद्ध स्थूल शरीर से कर सकना संभव न होगा। हाड़-मांस की काया की कार्य क्षमता सीमित ही रहती है। सूक्ष्म शरीर से हजार गुना काम अधिक हो सकता है। जूझने और सृजन के दुहरे मोर्चे पर जितना करना-कराना पड़ेगा, उसके लिए सूक्ष्म और कारण शरीर का आश्रय लिये बिना गुजारा नहीं। जिम्मेदारी बहुत अधिक बढ़ी है, इसलिए काया स्वस्थ होते हुए भी उसे छोड़कर शांति कुंज काया का आश्रय अनिवार्य हो जाता है। समझा जाना चाहिए कि व्यापक क्रिया-कलापों का निर्वाह करते हुए भी हम शांति कुंज और उनके साथ जुड़ी हुई जिम्मेदारियों को पूरा करने में तनिक भी प्रमाद नहीं बरतेंगे। सब कार्य यथावत् ही नहीं वरन् और भी अच्छी तरह सम्पन्न होते रहेंगे। एक करोड़ साधकों वाली पूर्णाहुति भी पूरी होकर रहेगी और उसके आवश्यक साधन भी जुट जाएँगे। हमें अपने हिस्से के कार्यों की चिंता है, परिजन अपनी जिम्मेदारी की चिंता करें तो इतना ही बहुत है।

वर्तमान परिजनों में प्रत्येक से कहा गया है कि वे इन दिनों जितनी सेवा-साधना और ध्यान धारणा बढ़ा सकें बढ़ा लें। साथ ही "एक से पाँच, पाँच से पच्चीस" वाले उपक्रम का भी ध्यान रखें। अभी तो सभी परिजन निजी जिम्मेदारी उठाने वाले भागीदार मात्र हैं। अगले दिनों उन्हें अपने प्रेमी-साथी और बनाने हैं, तभी पूर्णाहुति के

वर्ष तक पच्चीस हो सकेंगे। जिनके तत्वाधान में पच्चीस भागीदार होंगे, उन्हें संरक्षक गिना जाएगा और उनका स्थान अधिक प्रमाणित माना जाएगा। पच्चीस न भी बना सकें तो भी कम से कम पाँच भागीदार तो हर किसी को बना ही लेने चाहिए, ताकि एक करोड़ संख्या पूरी होने में कमी न पड़ने पाए।

उद्यान लगाने वालों की पीढ़ी दर पीढ़ी उसका लाभ उठाती रहती है। समझा जाना चाहिए कि युग संधि पुरश्चरण को खाद पानी देने वाले, किए गए प्रयास की तुलना में कहीं अधिक लाभ प्राप्त करेंगे। उतनी ही नहीं, उनके पुण्य से उनकी अगली पीढ़ियाँ भी मोद मनाती रहेंगी। इस अलभ्य अवसर से जो चूकेंगे, उन्हें यही पश्चाताप ही कचोटता रहेगा, कि एक ऐतिहासिक सुयोग का अवसर आया था और हमने उसकी उपेक्षा कर उसे आलस्य प्रमाद में गवाँ दिया। आशा की गई है कि वर्तमान परिजनों में से कदाचित् ही कोई ऐसे रहें, जिनसे युग धर्म का वर्तमान निर्वाह न बन पड़े, जो समयदान अंशदान से जी चुराएँ।

प्रस्तुत पुरश्चरण मात्र भारत तक सीमित नहीं है। इसमें अन्य देशों और धर्मों के लोग भी प्रसन्नतापूर्वक सम्मिलित हो सकते हैं। साधक अपना पंजीकरण एक परिपत्र पर अपना नाम, पता, साथी भागीदारी की संख्या व उनके नाम पते लिखकर भेज दें। यहाँ से उनकी पंजीयन क्रमांक सूचित कर दी जाएगी। उसी आधार पर भावी पत्र व्यवहार चलेगा।

युग निर्माण मिशन-संक्षिप्त परिचय

उद्देश्य : मनुष्य में देवत्व का उदय एवं धरती पर स्वर्ग का अवतरण। व्यक्ति निर्माण, परिवार निर्माण, समाज निर्माण। विचारक्रांति, नैतिक क्रांति, धार्मिक क्रांति एवं सामाजिक क्रांति द्वारा जनमानस का भावनात्मक परिष्कार।

गठन : नव निर्माण के लिए तत्पर नित्य समय दान और अंश दान करने वाले लाखों कर्मनिष्ठों का पारिवारिक संगठन। प्रचारात्मक, रचनात्मक और सुधारात्मक कार्यक्रमों द्वारा मानवीय गरिमा को उभारने वाली गतिविधियों में संलग्न समुदाय।

आधार : सदस्यों का दैनिक श्रमदान एवं अंशदान। नित्य ५० पैसा और २ घण्टे समय का नियमित अनुदान। इसी सामर्थ्य के बलबूते अनेकों महत्त्वपूर्ण गतिविधियों का गत ५० वर्षों से संचालन।

प्रमुख संस्थान : (१) गायत्री तपोभूमि, मथुरा (२) अखण्ड ज्योति कार्यालय, मथुरा (३) गायत्री शक्तिपीठ, आंवलखेड़ा, आगरा (४) शांतिकुंज, हरिद्वार (५) ब्रह्मवर्चस्, हरिद्वार। भारत एवं विदेश में लगभग ४००० शक्तिपीठ, प्रज्ञापीठ एवं गायत्री परिवार की शाखाओं द्वारा प्रचार प्रसार।

प्रकाशन : युग निर्माण योजना (हिन्दी मासिक), युग शक्ति गायत्री (गुजराती मासिक), अखण्ड ज्योति मासिक एवं अन्य कई पत्रिकाएँ भारत की विभिन्न भाषाओं में प्रकाशित। विभिन्न विषयों पर पूज्य गुरुदेव द्वारा रचित लगभग ५०० पुस्तकों का प्रकाशन देश की विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं में।

गतिविधियाँ एवं प्रचार : धर्म तंत्र से लोकशिक्षण, अग्नि साक्षी में सत्प्रवृत्तियाँ अपनाने के संकल्प, युग निर्माण विद्यालय, मथुरा, नौ दिवसीय साधना सत्र एवं एक मासीय **युग शिल्पी सत्रों** का नियमित आयोजन। टोलियों द्वारा देश-विदेश में मिशन का प्रचार-प्रसार।

कार्यक्षेत्र : समस्त भारतवर्ष एवं विश्व।